हमारे पेड़

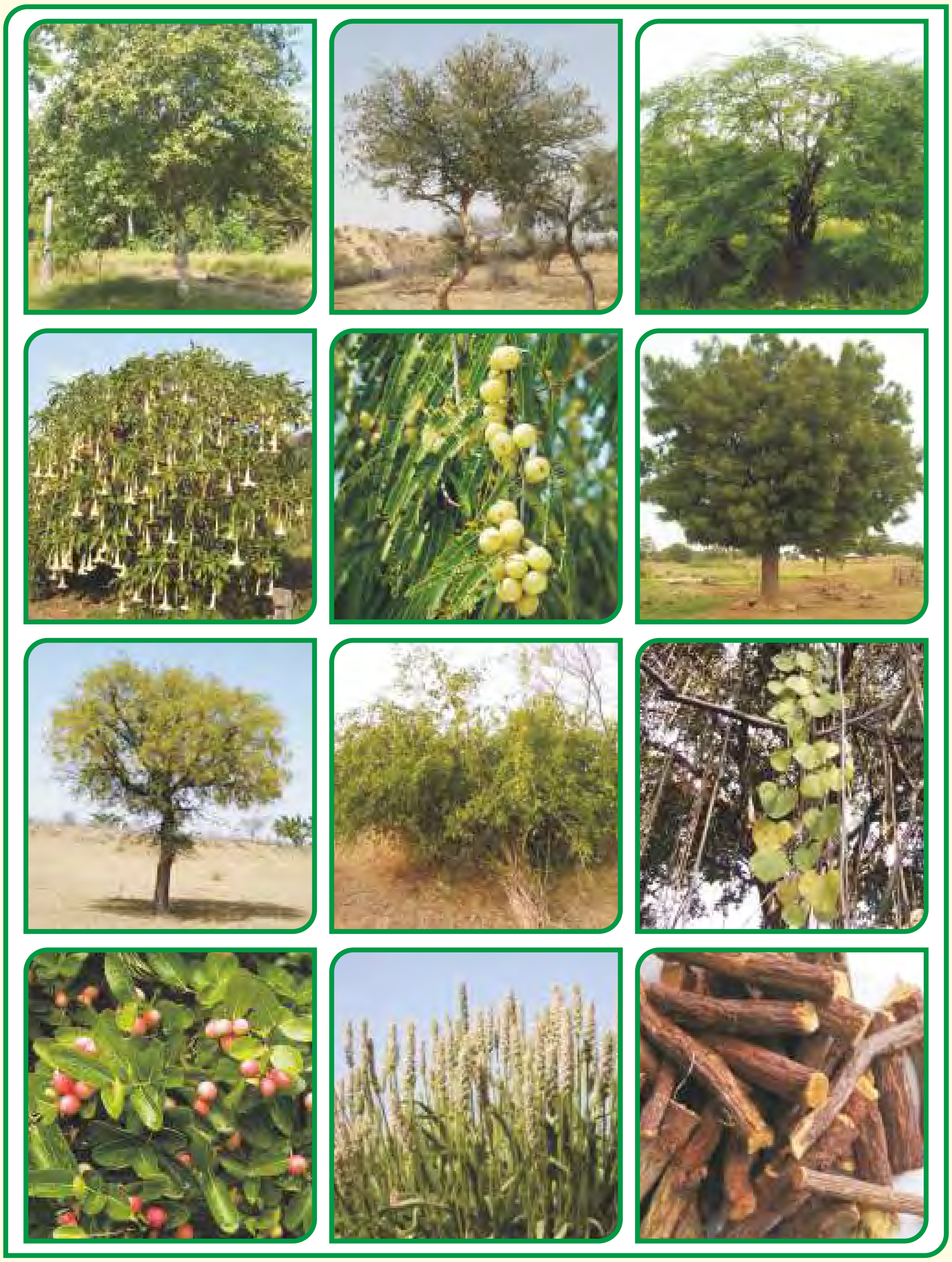

Gravis

HelpAge International
age helps

हमारे पेड़

संपादक: डॉ. प्रकाश त्यागी

EUROPEAN UNION

GRAVIS

HELPAGE INTERNATIONAL

हमारे पेड़

मई 2013

प्रकाशक :

ग्राविस

ग्रामीण विकास विज्ञान समिति
3/437, 458 मिल्कमेन कॉलोनी, पॉल रोड़,
जोधपुर – 342008, राजस्थान
फोन : 0291-2785317, 2785549, 2785116
फैक्स : 0291-2785116
ईमेल : email@gravis.org.in
वेबसाइट : www.gravis.org.in

सहयोग :

हैडकॉन

हैल्थ एनवायरमेन्ट एण्ड डवलपमेन्ट कन्सोर्टियम
67/145, प्रताप नगर, सांगानेर,
जयपुर- 302022, राजस्थान
फोन : 0141-2792994, 2790741
ईमेल : hedcon2004@yahoo.com
वेबसाइट : www.hedcon.org

ISBN 978-81-976789-6-7

यूरोपियन यूनियन एवं हैल्प एज इन्टरनेशनल (यू.के.) के आर्थिक सहयोग से
पी.ओसी. परियोजना के अन्तर्गत प्रकाशित

अनुक्रमाणिका

1. रेगिस्तान का कल्प-तरु 'खेजड़ी' 5
2. आँवला 8
3. ईसबगोल 12
4. नीम एक बहुपयोगी वृक्ष 16
5. करौंदा : परिचय 19
6. बेल एक बहुपयोगी वृक्ष 21
7. बबूल 23
8. धतूरा 25
9. मुलहठी 28
10. गिलोए 32
11. पीलू 34
12. रोहिड़ा 36

Blank

रेगिस्तान का कल्प-तरू 'खेजड़ी'

खेजड़ी जिसका वानस्पतिक नाम **Prosopis cineraria** से जाना जाता है। यह एक मध्यम आकार का वृक्ष है, जो मुख्यतः राजस्थान के थार रेगिस्तान में पाया जाता है। खेजड़ी को भारतीय रेगिस्तान का 'स्वर्ण वृक्ष' भी कहा गया है क्योंकि रेगिस्तानी और अर्ध-रेगिस्तानी क्षेत्र के पर्यावरण को बचाने में इसकी अहम भूमिका है। यह रेगिस्तानी क्षेत्र के सामाजिक-आर्थिक विकास का प्रतीक है। खेजड़ी एक ऐसा वृक्ष है जिसके सभी भाग उपयोगी होते हैं। इसी कारण इसे कल्प-तरू भी कहा गया है।

राजस्थान में विश्नोई सम्प्रदाय के लोग पेड़ों के संरक्षक माने जाते हैं। राजस्थान का एक विशेष समुदाय विश्नोई समुदाय खेजड़ी के वृक्ष को कभी नहीं काटते हैं, यहाँ तक कि अपने खेतों से भी नहीं। इसके पीछे तर्क है कि इस समुदाय के धर्मगुरू भगवान जम्बेश्वर ने हरे वृक्षों की कटाई पर पूर्ण रूप से रोक लगाई थी। सन् 1731 में जोधपुर के पास खेजड़ली गाँव में अपने 363 साथी स्त्री-पुरूषों के साथ खेजड़ी की रक्षा करते हुए अपना जीवन बलिदान करने वाली श्रीमती अमृता देवी की याद में भारत सरकार ने वन्यजीव संरक्षण के क्षेत्र में एक राष्ट्रीय पुरस्कार **''अमृता देवी विश्नोई नेशनल अवार्ड फॉर वाइल्ड लाइफ कन्सरवेशन''** घोषित किया है।

खेजड़ी में पाला, अकाल तथा उच्च तापमान से लड़ने हेतु प्रतिरोधक क्षमता है। यह गर्मी में 50-52 डिग्री सेन्टीग्रेड तथा सर्दी में 2 डिग्री सेन्टीग्रेड से कम तापमान पर अपने को जीवित रखता है। खेजड़ी को वर्षा जल की आवश्यकता न्यूनतम होती है। इस क्षेत्र में खेजड़ी को पशु आहार के रूप में मुख्य स्थान दिया गया है, और यह चरने वाले पशुओं, लोगों तथा पक्षियों को छायादार आश्रय प्रदान करता है।

खेजड़ी के नाम

सामान्य नाम : खेजड़ी

वानस्पतिक नाम : **Prosopis cineraria**

अंग्रेजी नाम : **Prosopis Cineraria**

अरबी नाम : ग़ाफ

पंजाबी नाम : ज़न्द

सिन्धी नाम : कान्डी

गुजराती नाम : सामी, सुमरी

वृक्ष सदाबहार होने के कारण गर्मियों से पहले इसमें नई टहनियाँ व पत्तियाँ फूट आती हैं। इस पर मार्च से मई के बीच पीले अथवा हल्के क्रीम रंग के फूल आते हैं तथा उन पर फलियाँ बन जाती हैं जो बहुत ही तेजी से बढ़ कर दो माह में अपने पूरे आकार को प्राप्त कर लेती हैं।

पौधारोपण एवं खेती

जलवायु

यह वृक्ष शुष्क जलवायु पसंद करता है, खेजड़ी को वर्षा जल की आवश्यकता न्यूनतम होती है। इसके पुराने वृक्ष अकाल प्रतिरोधी होते हैं। यह गर्म हवाओं और शुष्क मौसम में भी ऐसे ही खड़ा रहता है और जब दूसरे वृक्ष मुर्झाने लगते हैं उस समय भी यह जीवित रहता है।

मृदा

यह वृक्ष हर प्रकार की मृदा में पनप जाता है। अधिकाँश रूप से यह दोमट मिट्टी जिसमें सभी प्रकार की रेतीली व चिकनी मिट्टी का मिश्रण हो, में पाया जाता है। हल्की लवणीय भूमि में यह अधिक पाया जाता है, परन्तु उन स्थानों पर बहुत जल्दी सूख जाता है जहाँ मिट्टी अधिक लवणीय होती है।

प्रसारण (फैलाव)

नम स्थानों पर इसका प्राकृतिक पुनःरूत्थान बीजों के माध्यम से बहुत जल्दी होता है, परन्तु शुष्क स्थिति में स्वतः इसकी जड़ों में से नयी पौध पनप आती है। बीज से लगाने के लिये बीजों का खोल फोड़ना व बीजों को पानी में भिगोना पड़ता है। बीजों की अंकुरण दर 65 प्रतिशत होती है। एक वर्ष पुराने नर्सरी में तैयार पौधों का पौधारोपण भी किया जाता है। खुली नालियों से सिंचाई अथवा बाढ़ जैसी स्थिति में भी इसके बीज जो जमीन पर पड़े होते हैं उग आते हैं। खेजड़ी को सिंचित खेतों में फसल के साथ भी उगाया जा सकता है। औसत रूप में एक परिपक्व वृक्ष से हरा चारा 60 किलो प्राप्त होता है यदि इसकी पूर्ण रूप से छंटनी की जाए, यदि बीच की पूर्ण विकसित टहनियों की छंटाई करें तो 30 किलो और निचली टहनियों की छंटाई करें तो 20 किलो चारा प्राप्त होता है। खेजड़ी की जड़ें पूर्ण विकसित और लम्बी होती हैं, इसका विकास भूमि के ऊपर धीरे होता है परन्तु भूमि के भीतर जड़ें गहरी और गहरी जाती रहती हैं जिससे कि वे भूमिगत जल प्राप्त कर सकें। गहरी जड़ें वृक्ष को मजबूती भी प्रदान करती हैं। इसकी मूल जड़ 35 मीटर तक गहरी चली जाती हैं।

खेजड़ी का कृषि उपयोग

खेजड़ी की विविधताओं के कारण इसे कृषि फसलों का हिस्सेदार माना गया है। खेजड़ी एक नाइट्रोजन का स्थिरीकरण करने वाला वृक्ष है, जिसका अर्थ है कि यह नाइट्रोजन को मृदा में उपलब्ध करा उसकी गुणवत्ता को बढ़ा देता है इसके साथ-साथ मृदा में कार्बनिक पदार्थ उपलब्ध कर उसको और उत्तम बना देता है। खेजड़ी वृक्ष हवाओं की गति को रोकता है जिससे खेतों की रेगिस्तानी हवाओं से रक्षा होती है। इसकी लकड़ी जलाने के काम में ली जाती है तथा इससे कोयला भी बनाया जाता है। खेजड़ी भारतीय रेगिस्तानों के सामाजिक-आर्थिक विकास का प्रतीक है।

पर्यावरण संरक्षण

चूँकि खेजड़ी की जड़ें बहुत गहरी जाती हैं इसलिये सामान्यतः ये साथ लग रही कृषि फसलों के साथ प्रतिस्पर्धा नहीं करते। खेजड़ी वृक्ष के छत्र में मृदा में अधिक से अधिक पोषक तत्व होने के कारण फसलों का विकास अच्छी प्रकार से होता है। गहरी जड़ों के कारण रेत के टीलों को परिवर्तित नहीं होने देता, तेज रेगिस्तानी हवाओं से खेतों का बचाव करता है। वातावरण से नाइट्रोजन को ग्रहण कर जैविक क्रियाओं द्वारा मृदा में उपलब्ध कराता है। इसकी झड़ी हुई पत्तियों की सड़न से खेतों को कार्बनिक पदार्थ प्राप्त होते हैं जो मृदा को अधिक शक्ति प्रदान करते हैं। रेगिस्तानी इलाकों में यह एक मात्र वृक्ष है जो खेतों में काम कर रहे किसानों को, पशुओं को, जंगल में रहने वाले जानवरों आदि को गर्मियों

के मौसम में छायादार आश्रय देता है। खेजड़ी की फलियाँ पशुओं, भेड़ों, बकरियों, घोड़ों, गधों, ऊँटों तथा जंगली जानवरों के लिए पौष्टिक आहार के रूप में काम आती हैं। रेगिस्तान में काले हिरन तथा चिंकारा का आहार भी यही है।

खेजड़ी के अन्य उपयोग

खेजड़ी एक सर्वोत्तम, पोषक तथा पाचक हरा चारा है, इसे सुखा कर भी पशुओं को दिया जाता है जो रेगिस्तान में पशुओं के चारे के रूप में उपलब्ध है। इसकी पत्तियाँ बहुत ही पोषक होती हैं जिन्हें स्थानीय लोग ''लूँग'' कहते हैं।

वर्षा आधारित क्षेत्रों में सर्दियों के मौसम में अन्य हरा चारा उपलब्ध नहीं होने पर यह सस्ते हरे चारे के रूप में उपयोग किया जाता है। इसकी फलियाँ जो मीठे स्वाद की होती हैं, भी पशु आहार के रूप में उपयोग में ली जाती है।

खेजड़ी की फलियाँ - इन्हें स्थानीय भाषा में ''सांगर'' या ''सांगरी'' कहा जाता है। सूखी हुई फलियों को यहाँ ''खो-खा'' कहा जाता है और इसकी सब्जी बनाई जाती है। इसको पशु आहार के रूप में भी उपयोग किया जाता है। कहा जाता है कि वर्ष 1899 तथा 1939 के अकाल के दौरान लोगों ने ये फलियाँ तथा वृक्ष की छाल खा कर दिन व्यतीत किये थे। औसत रूप से फलियों का उत्पादन 14,000 किलो प्रति वर्ग किमी हो जाता है परन्तु एक दम सूखे क्षेत्र में लगभग 10.7 प्रतिशत की कमी हो जाती है।

खेजड़ी का गोंद - खेजड़ी पर माह अप्रैल से जून के बीच चमकदार भूरे रंग का गोंद प्राप्त होता है जो अरबी गोंद जैसा दिखता है। यह बहुत ही ताकतवर व पौष्टिक होता है, जिसे महिलाएं गर्भकाल में लेती हैं।

खेजड़ी की लकड़ी - कहा जाता है कि खेजड़ी की लकड़ी में अधिक कैलोरी की मात्रा होने के कारण एक अच्छी जलाऊ लकड़ी प्राप्त होती है। छंगाई करने से जो टहनियाँ प्राप्त होती हैं वह बाड़ लगाने के काम आती है।

औषधीय गुण - खजेडी़ के फूलों को चूर्ण बना कर मिश्री के साथ गभर्काल में सेवन करने से गभर्पात की संभावनाएं कम हो जाती हैं। तने की छाल का अर्क उद्दीपनरोधी का काम करता है। खेजड़ी का गोंद और इसकी छाल के बहु उपयोग हैं; ये उद्दीपनरोधी, पेट का कृमि नाशक आदि में काम आने के साथ-साथ एक टॉनिक का कार्य भी करता है। कोढ़ के इलाज में, श्वास नलिका की बीमारियों में, सफेद दाग होने पर, मस्सों की बीमारी में, मांस पेशियों की थरथराहट में भी उपयोगी सिद्ध हुआ है। इसकी छाल सांप के काटने अथवा बिच्छु के डंक मारने पर तुरन्त लाभ देती है। इसकी पत्तियाँ और फल स्नायु विषयक बीमारियों की दवाईयाँ बनाने में काम में लिये जाते हैं। इसकी छाल से बनी दवाईयाँ दस्त, पेचिश, मस्से, पेट के कृमि तथा चर्म रोगों के इलाज में काम आती हैं।

खेजड़ी की पूजा - वैदिक काल में यज्ञ आदि के समय पवित्र अग्नि हेतु खेजड़ी की लकड़ी का उपयोग किया जाता था। हिन्दु ग्रन्थों रामायण व महाभारत में भी इस वृक्ष के उपयोगों व महत्वों का उल्लेख है। भगवान राम ने भी रावण से युद्ध में जाने से पूर्व खेजड़ी शक्ति की देवी पूजा की थी, पाण्डवों ने भी अपने अज्ञातवास के समय इसकी पूजा की थी और अपने हथियार भी इसी में छुपाए थे। मुख्य रूप से खेजड़ी की पूजा पुरूष एवं विवाहिता स्त्री सुसंस्कारित रूप से कर सकते हैं।

आँवला

आँवला या नीलीक्कई को हिन्दी में अमलका भी कहा जाता है। संस्कृत भाषा में इसे अमलाकी कहते हैं जिसका अर्थ होता है पुष्ट करने वाला अथवा वह फल जिसमें सम्पन्नता की देवी का वास होता है। आँवला भरपूर विटामिन सी का प्राकृतिक स्त्रोत है। इसके ताजे रस में संतरे के रस के मुकाबले 20 प्रतिशत विटामिन सी अधिक होता है। एक छोटे आँवले में दो संतरों के बराबर विटामिन सी होता है। चिकित्सा के क्षेत्र में किये गये परीक्षणों से यह सिद्ध किया जा चुका है कि फेफड़ों के क्षय रोगियों में इसके विटामिन का अवशोषण संश्लेषित विटामिन के मुकाबले जल्दी होता है। यह आयुर्वेदिक दवाओं तथा टॉनिकों में उपयोग किया जाता है, अत्यधिक लार आने, चक्कर आने, उल्टियाँ, शुक्राणुओं की कमी, शारीरिक ऊष्मा तथा मासिक धर्म में अनियमितता जैसी बीमारियों में बहुत ही फायदा करता है। यह शरीर में ठण्डक प्रदान करता है और बहुत ही उत्तम यकृत टॉनिक है। आयुर्वेदिक ग्रन्थ भाव-प्रकाश में आँवला के लिये लिखा गया है

हन्ति वांत तदम्लत्वात् पित्तं माधुर्यशैत्यतः।

कफं रूक्षकशायत्वात् फलं धाायास्त्रिदोषजित्॥

इसका उपयोग च्यवनप्राश तथा त्रिफला चूर्ण में मुख्य घटक के रूप में होता है। आँवला के फल को बहुत ही स्वास्थ्यवर्धक माना गया है और प्राचीनकाल से इसको पूजा जाता है।

सामान्य नाम :

हिन्दी - आँवला

अंग्रेजी - गूज़बैरी

संस्कृत - अम्लिका

गुजराती - आमला

पंजाबी - ओले

कन्नड - नीलीक्कई

हिन्दू धर्म-ग्रंथों के अनुसार कुछ पौधों के पूजन हेतु मार्गदर्शन दिया गया है। इस वृक्ष के साथ देवी महालक्ष्मी का नाम जुड़ता है, क्योंकि यह माना जाता है कि इसकी उत्पत्ति ब्रह्मा के आँसुओं के गिरने से हुई है।

आँवले का वृक्ष :

इसका वृक्ष छोटा होता है जिसमें रोयेंदार पत्तियाँ तथा गूदेदार फल होता है। इसका तना मुड़ा हुआ और फैली हुई शाखाएं होती हैं। इसका फूल हरा-पीला रंग का होता है और फल गोलाकार फीके पीले रंग का होता है जिसमें छः लम्बवत झिर्रियाँ होती हैं।

रासायनिक संगठक :

आँवला के रासायनिक संगठकों की जाँच करने पर पाया गया कि इसमें (1) गैलिक अम्ल, (2) एलागिक अम्ल, (3) 1-0-गैलोयल-बीटा-डी-ग्लूकोज, (4) डाई-0-गैलोयल-डी-ग्लूकोज, (5) चेबुलिनिक अम्ल, (6) क्वेरसिटिन, (7) चेबुलेगिक अम्ल, (8) कोरिलाजिन, (9) 3-इथायिलगैलिक अम्ल, (10) आईसोस्ट्रीक्टीन, (11) एस्कॉर्बिक अम्ल होते हैं।

भूमि व जलवायु :

आँवला रेतीली भूमि के अलावा किसी भी प्रकार की भूमि पर लगाया जा सकता है। यदि अच्छी उपजाऊ और पानी के निकास वाली भूमि हो तो अधिक उत्पादन प्राप्त किया जा सकता है। आँवले के पौधे में अनुकूलन की क्षमता बहुत अधिक होने के कारण यह हल्की सी लवणीय भूमि में भी लगाया जा सकता है। यह उष्णकटिबन्ध क्षेत्र में व्यापक रूप से उगाया जाता है। आँवले के पौधे को 3 वर्ष की आयु तक सर्दी में पाले से तथा गर्मी में तेज गर्म हवाओं से बचाने की आवश्यकता है। बड़ा होने के बाद यह 00 - 460 तक तापमान बर्दाश्त कर सकता है।

पौधारोपण :

अधिकाँशतया आँवले के पौधों को बीजों के माध्यम से बढ़ाया जाता है, परन्तु बीजों से तैयार पौधों पर लगने वाले फलों की गुणवत्ता कम होती है तथा पौधे पर फल लगने में बहुत लम्बा समय लगता है। एक वर्ष के पौधे पर अच्छे किस्म के पौधे की कलम चढ़ाने से बड़े आकार के फल लगते हैं। कम गुणवत्ता के पुराने पौधों को इस पद्धति से अच्छी गुणवत्ता वाले पौधे में परिवर्तित किया जा सकता है। इसे लगाने के लिये 1 मीटर लम्बा, 1 मीटर चौड़ा तथा 1 मीटर गहरा गढ्ढा 4.5 मीटर की दूरी पर मई-जून माह में खोद कर उन्हें 15 से 20 दिन के लिये खुला छोड़ दिया जाता है जिससे उनको भली प्रकार धूप लग सके। पौधा लगाने से पूर्व मिट्टी में कम्पोस्ट खाद तथा एक किलो सुपर फॉस्फेट अच्छी प्रकार से मिला कर गढ्ढे में भरने के पश्चात उसमें उत्तम किस्म का पौधा रोपें।

खाद तथा कीटनाशक :

आँवले के पौधे को फर्टीलाईजर अथवा कीटनाशक दवाईयों की आवश्यकता नहीं होती। इनके लिये मुख्यतः कम्पोस्ट खाद, वर्मी कम्पोस्ट या हरी खाद का उपयोग आवश्यकतानुसार किया जाना चाहिये। बीमारियों से बचाने के लिये जैविक कीटनाशक नीम, चित्रकमूल धतूरा अथवा गौ मूत्र आदि से तैयार करना चाहिये। जैविक फर्टीलाईजर जैसे एजोटोबेक्टर, वेसीकुलर अर्बसकुलर माईकोराइजा आदि पौधों की वृद्धि में सहायक होते हैं।

सिंचाई :

आँवले के पौधे को मॉनसून के समय में किसी प्रकार की सिंचाई की आवश्यकता नहीं होती। गर्मी के मौसम में छोटे पौधों को 15 दिन के अन्तराल पर पानी की आवश्यकता होती है जब तक कि वह पूर्ण रूप से विकसित नहीं हो जाए। फल लगे पौधों के लिये गर्मी के मौसम में सप्ताह में दो बार पानी देने की सलाह दी जाती है जिससे फल भी अधिक लगेंगे तथा फल गिरने की शिकायत नहीं रहेगी। इसके लिये ड्रिप सिंचाई को सर्वोत्तम माना गया है जिसका उपयोग माह अक्टूबर से दिसम्बर में करना चाहिये और प्रति पौधा प्रति दिन 25-30 लीटर पानी ड्रिप के माध्यम से देना उचित होता है।

फसल निकालना :

आँवला पर प्रायः 7 से 8 वर्ष में फल लगने प्रारम्भ हो जाते हैं, जबकि कलम लगे पौधे पर 4 से 5 वर्षों में फल आ जाता है। प्रारम्भ में फल हल्के हरे रंग के होते हैं जो आगे चल कर हल्के पीले-हरे रंग के हो जाते हैं। आँवला की फसल को फरवरी

माह में उतारना चाहिये क्यों कि इस समय उसमें प्रचुर मात्रा में एस्कॉर्बिक अम्ल पाया जाता है। पका हुआ फल कठोर होता है तथा केवल छूने से नहीं गिरता इसलिये पौधे को बहुत जोर से हिलाना पडता है। फल उतारने के लिये लम्बे बाँस पर हुक लगा कर उपयोग किया जा सकता है। फल उतारने के बाद यदि उत्पादक अच्छी कीमत चाहता है तो उसे फलों की छंटनी कर बड़े व छोटे फलों को अलग कर लेना चाहिये।

उत्पादन :

एक वयस्क पौधा जिसकी आयु 10 वर्ष के लगभग होती है उससे 50-70 किलो फल प्राप्त हो जाते हैं। एक स्वस्थ फल का वजन लगभग 60-70 ग्राम होता है। यदि पौधे की भली प्रकार देखरेख की जाए तो वह 70 वर्ष की आयु तक फल देता है। 50 वर्ष की आयु तक उत्पादन वर्ष दर वर्ष बढ़ता जाता है।

आँवला एक औषधीय पौधा :

आँवला भरपूर विटामीन सी का सबसे उत्तम प्राकृतिक स्त्रोत है। इसके ताजे रस में संतरे के रस से 20 प्रतिशत अधिक विटामिन सी प्राप्त होता है। चिकित्सकीय परीक्षणों में यह साबित हो चुका है कि फेफड़ों के क्षय रोगियों में इसके विटामिन का अवशोषण संश्लेषित विटामिन के मुकाबले जल्दी होता है। इसका उपयोग कई आयुर्वेदिक दवाईयों तथा टॉनिकों में होता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है यह अत्यधिक लार आने, चक्कर आने, उल्टियाँ, शुक्राणुओं की कमी, शारीरिक ऊष्मा तथा मासिक धर्म में अनियमितता जैसी बीमारियों में बहुत ही फायदा करता है। यह शरीर में ठण्डक प्रदान करता है, यह शरीर में सत्व बढ़ाता है और यह बहुत ही अच्छा लीवर टॉनिक है।

आयुर्वेद के अनुसार यह सलाह दी जाती है कि इससे बने टॉनिक का प्रयोग पूरे सर्दी के मौसम में करना चाहिये। ताजा फल से मल व मूत्र खुल कर आते हैं। इससे ठण्डक व ताजगी प्रदान करने वाला पेय तैयार किया जाता है। वैद्य (आयुर्वेदिक चिकित्सक) इसके रस का उपयोग गर्मियों में करने की सलाह देते हैं, क्योंकि गर्मियों के मौसम में अधिक गर्मी के कारण शारीरिक क्रियाएं शिथिल पड़ जाती हैं। आँतों को साफ रखने के लिये चार चाय के चम्मच आँवला पावडर, चार चम्मच बहेड़ा तथा चार चम्मच हरड़ को एक से डेढ़ कप पानी में तब तक उबालें जब तक वह आधा न रह जाए। इसे प्रातः खाली पेट पीना चाहिये।

सूखा हुआ आँवला बहुत अच्छा संकुचनकर्ता होता है अतः इसका उपयोग दस्त एवं पेचिश में करना चाहिये। आँवला विश्व प्रसिद्ध च्यवनप्राश का मुख्य घटक होता है और त्रिफला चूर्ण में भी एक भाग इसका होता है। स्नान करने से पूर्व आँवले का थोड़ा सा तेल सिर में लगाने से नेत्र रोग, रात्रि में कम दिखाई देना तथा पित्त वमन जैसी बीमारियों से निजात मिलती है। विभिन्न चिकित्सकीय परीक्षणों से यह साबित हुआ है कि इसके फल में ऐसे तत्व विद्यमान हैं जो विषाणुनाशक (एण्टी वायरल), शरीर में प्रोटीन की मात्रा को पूरा करने, तथा कंपन और हाथ पाँवों की ऐंठन आदि के लिये प्रयोगकारी हैं। कहा जाता है आँवला रूप को भी निखारता है।

आयुर्वेदिक ग्रन्थों के अनुसार आँवला एक सशक्त यौवन प्रदाता है, यह नये ऊतक, कोशिकाएं और लाल रक्त कोशिकाएं बनाने में सहायक होता है। यह दाँतों और मसूड़ों से संबन्धित बीमारियों में लाभ पहुँचाता है साथ ही नेत्र शक्ति भी बढ़ाता है। आँवला हड्डियों को मजबूती प्रदान करता है और बालों तथा नाखूनों की वृद्धि के साथ-साथ उनकी चमक बढ़ाता है। मधुमेह संबन्धी विकार में एक चाय का चम्मच आँवला पावडर और एक चम्मच हल्दी पावडर प्रति दिन लेने से लाभ होता है।

आँवला के अन्य उपयोग :

इसके फल का उपयोग स्याही बनाने तथा बालों को रंगने के काम में लिया जाता है। सूखा फल बाल धोने के लिये

उपयोग किया जाता है। आँवले का तेल बालों को असमय सफेद होने से रोकने, बालों के अनुकूलन तथा बालों के झड़ने से रोकने के काम आता है।

आँवले का खाद्य महत्व :

आँवले में निम्न तत्व पाए जाते हैं - नमी 91.4, खनिज पदार्थ 0.7, रेशा 3.4, कैलोरी 96(शक्ति), प्रोटीन 0.9, वसा 0.1, कार्बोहाइड्रेट 6.9ग्राम, कैल्सीयम 34, लौह 1.2, विटामिन बी-1 0.02, विटामिन बी-2 0.08, विटामिन सी 463मिग्रा./ 100ग्राम।

आँवला के दुष्प्रभाव :

आँवला से कोई दुष्प्रभाव नहीं पाए गये हैं।

आँवला का अर्थशास्त्र :

आँवला आर्थिक रूप से व्यवहार्य है और फल लगने के तीसरे वर्ष से बड़े आकार के फल मिलना प्रारम्भ हो जाते हैं। पाँचवें वर्ष में यह 50 किलो फल देने लगता है, आठवें वर्ष के बाद प्रति पौधा औसत उपज लगभग 100 किलो प्रति वर्ष तक मिलने लग जाती है। आँवले का पौधारोपण करने के लिये प्रति एकड़ 1.25 लाख रूपये के लगभग की लागत आती है। तीसरे वर्ष के पश्चात प्रति एकड़ 2.5 लाख रूपये के लगभग आय हो जाती है।

आधुनिक अनुसंधान :

मधुमेह में इन्सुलिन द्वारा किये जा रहे इलाज के दौरान आँवला एक असरकारी खाद्य संपूरक का कार्य करता है।

ईसबगोल

भारत विश्व भर में ईसबगोल का एकमात्र निर्यातक है। ईसबगोल एक प्राकृतिक खाद्य पदार्थ है जो कि ठंडा, रेशेदार एवं आंतों के लिये सुपाच्य है, जिसके द्वारा अति अम्लता (एसिडिटी), कब्ज एवं दिल के रोगों की रोकथाम में मदद मिलती है। खाद्य उत्पाद निर्माताओं द्वारा इसे अधिक रेशायुक्त नाश्ते के पदार्थो, ब्रैड, आइसक्रीम आदि में आवश्यक तत्व के रुप में शामिल किया जाता है। वर्ष 2007-2008 में भारत ने 70 मिलियन डॉलर की लागत का 24 मिलियन किलो ईसबगोल का निर्यात किया। यह पिछले 2 वर्षो में हुई 100 प्रतिशत वृद्धि है। निर्यात प्रतिवर्ष 15 प्रतिशत बढ़ रहा है, क्योंकि इसकी पैदावार मुख्य रुप से भारत में ही होती है।

ईसबगोल का वानस्पतिक नाम है *Plantago Ovata Husk* अंग्रेजी में इसे *Spage seed* तथा हिन्दी में इसे ईसबगोल के नाम से जाना जाता है।

यह पहले भूमध्य सागर के आसपास पश्चिम एशियाई क्षेत्रों में पाया जाता था। भारत में इसकी खेती विशेषकर गुजरात और राजस्थान के कुछ भागों में शुरु हुई। अब भारत वैश्वीय बाजार में ईसबगोल के उत्पादन एवं निर्यात में पहले स्थान पर है।

ईसबगोल एक वार्षिक हर्ब है जो 12 से 18 इंच तक की लम्बाई तक बढ़ती है। पत्तियाँ तने पर विपरीत क्रम में लगती हैं, पौधे के बीज एक खोल में बन्द रहते हैं और परिपक्व होने पर खोल फट जाता है। ये बीज दूधिया रंग के होते हैं। पौधा बोने के 60 दिन बाद फूल उगते हैं, ये फूल बहुत सारे, छोटे व सफेद होते हैं।

मौसम एवं मिट्टी

यह सिंचाई वाली फसल है और ढीली व हल्की मिट्टी पर अच्छी तरह उगती है, मिट्टी जिसमें पानी का पर्याप्त निकास न हो ईसबगोल के लिये अनुपयुक्त है। दोमट मिट्टी जिसका पी.एच. 4.7 से 7.7 हो, उच्च नाइट्रोजन स्तर तथा कम नमी वाली मिट्टी ईसबगोल की वृद्धि और बेहतर उपज के लिये उपयुक्त है।

ईसबगोल की पैदावार समशीतोष्ण क्षेत्रों में अच्छी होती है। इसको ठण्डा एवं शुष्क मौसम चाहिये और इसकी बुआई सर्दी के महीनों में होती है। नवम्बर के पहले सप्ताह में की गयी बुआई उत्तम होती है। जल्दी बुआई करने से फसल पर डाउनी मिल्ड्यू रोग का खतरा रहता है जबकि देर से बोने पर फसल को सर्दी में विकास का कम समय मिल पाता है और बीज अप्रैल-मई में जाकर प्राप्त होते हैं। फसल परिपक्व होने पर यदि मौसम में नमी है तो बीज बिखर जाते हैं और फसल कम प्राप्त होती है। भारी ओस और हल्की सी बारिश भी फसल को कम कर देती है, कभी-कभी तो फसल पूरी नष्ट भी हो जाती है। बीजों के अधिकतम अंकुरण के लिये आवश्यक तापमान 20 डिग्री सेल्सियस से 30 डिग्री सेल्सियस है।

बीज की तैयारी एवं अंकुरण

खेत में जंगली झाड़ियाँ और खरपतवार बिल्कुल नहीं होनी चाहिये। जुताई और गुड़ाई-निराई करने की संख्या जमीन की स्थिति, पिछली फसल और खरपतवार व घासपात पर निर्भर करती है। आखिरी जुताई के समय खेत में 10-15 टन फार्म यार्ड मैन्योर (एफ.वाय.एम.) प्रति हैक्टेयर के हिसाब से मिट्टी में मिलाया जाता है। खेत ईसबगोल 11 को मिट्टी की गुणवत्ता, खेत की ढलान और सिंचाई की मात्रा के आधार पर छोटे-छोटे खेतों में विभक्त किया जाता है। समान प्रकार की हल्की मिट्टी के लिये 8ग3 मीटर के आकार का खेत सही होगा।

बीजों के अधिक अंकुरण के लिये बीज उस फसल से लिये जाने चाहिये जो पिछली फसल के दौरान सबसे बाद में काटी गयी हो। साधारण प्रकार से रखे गये बीजों में से पुराने बीज अपनी क्षमता खो देते हैं। बीजों को उपचारित करने के बाद (3 किग्रा बीज में मर्क्यूरियल सीड ड्रेसर द्वारा) 4-8 किलो बीज प्रति हैक्टेयर में बोए जाते हैं।

बीज छोटे और हल्के होते हैं, अतः बुवाई से पहले बीज को अच्छी रेत या छानी हुई खाद में मिलाया जाता है। बीजों को खेत में बिखेर कर बोया जाता है क्योंकि कतार में बोने से फसल ज्यादा नहीं होती। बीजों को फैलाने के बाद ऊपर से हल्के हाथ से झाड़ू बुहारी जाती है ताकि बीज मिट्टी से ढक जाएं। झाड़ू को एक ही दिशा में बुहारना चाहिये ताकि बीज अधिक गहराई में न धंसे और एक समान अंकुरण हो। बुवाई के तुरन्त बाद सिंचाई होनी चाहिये। बुवाई के चार दिन बाद बीजों का अंकुरण शुरु हो जाता है। यदि अंकुरण में देर हो रही हो तो दुबारा पानी का छिड़काव करना चाहिये। बीच-बीच में निराई-गुड़ाई भी आवश्यक है।

सिंचाई

बुवाई के तुरन्त बाद हल्की सिंचाई जरुरी है। पहली सिंचाई में पानी बहुत धीमी गति से या पानी के छींटे देने चाहिये क्योंकि तेज गति से पानी देने पर बीज खेत की एक तरफ एकत्र हो जाएंगे और फिर उनका अंकुरण व वितरण समान नहीं होगा। बीजों का अंकुरण 6-7 दिन में होता है। यदि अंकुरण अच्छा नहीं है तो दुबारा हल्की सिंचाई करनी चाहिये। बाद में सिंचाई आवश्यकता के अनुसार करनी चाहिये। आखिरी सिंचाई उस समय की जाये जब अधिकतम पौधे उग आएं। मध्यम रेतीली भूमि में इस फसल को करीब 6-7 सिंचाई की आवश्यकता होती है।

कटाई

बुवाई के 2 महीने बाद फूल आना शुरु हो जाते हैं और फसल कटाई के लिये फरवरी-मार्च तक तैयार हो जाती है, यानिकि बुवाई के 110-130 दिन बाद। परिपक्व फसल पीली दिखाई देती है। कटाई के समय मौसम शुष्क होना चाहिये और पौधों पर नमी बिल्कुल नहीं होनी चाहिये (दोपहर के समय)।

रोग

ईसबगोल की फसल पर क्यूसेरियम ऑक्सीस्पिरम और डाउनी मिल्ड्यू जैसे रोग आक्रमण करते हैं।

खाद, उर्वरक और कीटनाशक

औषधीय पौधों को रासायनिक उर्वरकों व कीटनाशकों के बिना उगाना चाहिये। जैविक खाद जैसे फार्म यार्ड मैन्योर (एफ.वाय.एम.), वर्मी कम्पोस्ट, हरी खाद आदि का उपयोग पौधे की प्रजाति के अनुसार किया जा सकता है। रोगों की रोकथाम के लिये जैव-कीटनाशक बनाया जा सकता है जिसमें नीम की पत्तियाँ व निम्बोली, चित्रकमूल, धतूरा और गौमूत्र आदि हों।

औषधीय गुण

ईसबगोल का उपयोग विभिन्न स्वास्थ्य समस्याओं में होता है। यह खून में कोलेस्ट्रॉल के स्तर को कम करता है और दिल के रोग का खतरा कम करता है। ईसबगोल का उपयोग खूनी बवासीर, छाले, ब्रोंकाइटिस व आंत के कैंसर में होता है। इसके अलावा उच्च रक्तचाप, पित्त की थैली में पथरी, दस्त, क्रोन डिजीज, पेट के रोग, मूत्र रोग, सोरायसिस, कीड़ों का काटना, अल्सर आदि में भी उपयोगी है।

उपयोग

यह मूत्रवर्धक, प्रशामक व शीतलक है। यह पाचन तंत्र एवं मूत्र प्रजनन तंत्र की श्लेष्मा झिल्ली के संक्रमण व सूजन के उपचार में काम आता है। यह लैक्सेटिव (पेट में मल को मुलायम करने वाली औषधि) के रूप में जाना जाता है। यह आंतों की सामान्य क्रियाशीलता बनाए रखने व कब्ज अमीबिक डिसेन्टरी के उपचार में काम आता है।

कब्ज : कई कब्ज निवारक दवाओं का आवश्यक तत्व है ईसबगोल। यह फाइबर (रेशा) का बड़ा स्रोत है। यह मल की मात्रा को बढ़ाने में मदद करता है जो आंतों की दीवारों के संकुचन को उत्तेजित करता है। आंतों के संकुचन व गतिशीलता से मल त्याग आसानी से होता है।

मधुमेह : अध्ययन दर्शाते हैं कि ईसबगोल के विभिन्न घटक जैसे घुलनशील फाइबर, लीनोलेइक अम्ल एवं एल्केलॉइड आदि खून में शर्करा के स्तर को कम करते हैं।

दस्त : ईसबगोल का गुण है कि वह पाचनतंत्र में अधिक पानी को सोख कर मल को ठोस बनाता है। इस प्रकार यह दस्त, आंतों की ऐंठन व संक्रमण के उपचार में उपयोगी है।

बवासीर : ईसबगोल मल को मुलायम करके मल त्याग सुगम बनाता है, जिससे बवासीर के रोगियों को मल त्याग के समय होने वाले दर्द व परेशानी से राहत मिलती है।

उच्च कोलेस्ट्रॉल को कम करना : ईसबगोल का घुलनशील फाइबर और लिनोलेइक अम्ल कोलेस्ट्रॉल को कम करने वाले पित्त के उत्पादन को उत्तेजित करता है और शरीर में कोलेस्ट्रॉल के अवशोषण को कम करता है।

इसके अतिरिक्त ईसबगोल वजन घटाने में भी सहायक है।

पशुओं के आहार में प्राकृतिक फाइबर बढ़ाने के लिये भी ईसबगोल की बड़ी भूमिका है।

उपज

गुजरात ईसबगोल- 1 प्रजाति की उपज 800-900 किग्रा बीज प्रति हैक्टेयर है। नई प्रजाति गुजरात ईसबगोल-2 की उपज 1000 किग्रा बीज प्रति हैक्टेयर है।

अर्थव्यवस्था

भारत में गुजरात और राजस्थान में ईसबगोल के खेत 55,000 एकड़ में फैले हुये हैं। मध्य प्रदेश के किसान भी अब रुचि ले रहे हैं। 97 मिलियन किलो बीज से करीब दो दर्जन कम्पनियाँ भूसी बना रही हैं। स्वच्छता व आकार के आधार पर इसे बेचा जाता है। साइलियम डस्ट को 'खा खा' पाउडर कहते हैं जिसका औद्योगिक उपयोग है।

भारत ईसबगोल का सबसे बड़ा उत्पादक है और वर्ष भर में करीब 25 मिलियन रूपये का निर्यात करता है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका साइलियम हस्क का दुनिया का सबसे बड़ा आयातक है। आयात किये गये हस्क का 60 प्रतिशत भाग दवा निर्माता कम्पनियों को जाता है जो 'मेटाम्यूसिल', 'एफरसाइलियम' और 'फाइबरॉल' जैसी दवाओं के निर्माण में इसे

काम में लेते हैं। प्रॉक्टर एण्ड गैम्बल कम्पनी भारत में ईसबगोल की बड़ी ग्राहक है। ईसबगोल के बारे में जागरुकता बढ़ने से मलेशिया, ऑस्ट्रेलिया, थाइलैण्ड, जर्मनी, जापान, पाकिस्तान, स्पेन और इंग्लैण्ड की मांग बढ़ने लगी है। पिछले वर्ष ऑर्गेनिक इंडिया ने 500 टन ईसबगोल का निर्यात किया था।

ईसबगोल की उपज में लागत : 25,000 प्रति हैक्टेयर

ईसबगोल की उपज में प्राप्ति : 63,000 प्रति हैक्टैयर

कुल आमदनी : 38,000 प्रति हैक्टेयर (वर्ष 2011)

दुष्प्रभाव

पर्याप्त पानी के साथ लिये जाने पर ईसबगोल का कोई दुष्प्रभाव नहीं है। फिर भी कुछ लोग साइलियम (ईसबगोल) के लिये एलर्जिक हो सकते हैं। एलर्जी होने पर चकत्ते, त्वचा में सूजन या खुजली हो सकती है। ऐसी स्थिति में ईसबगोल का सेवन रोक कर चिकित्सक को दिखाना चाहिये।

नीम एक बहुपयोगी वृक्ष

यद्यपि नीम के वृक्ष का प्रत्येक भाग- जड़, छाल, फूल, पत्ते तथा फल अपनी उपयोगिता सिद्ध कर चुके हैं, परन्तु औषधीय एवं व्यावसायिक दृष्टि से नीम का जो भाग सर्वाधिक मूल्यवान सिद्ध हो चुका है वह है इसका फल अथवा फल से प्राप्त होने वाला बीज। नीम का बीज न केवल औषधीय दृष्टि से उपयोगी है बल्कि यह उच्च श्रेणी के कीटनाशक का भी स्रोत है तथा बहुमूल्य उर्वरक का भी। 'आम के आम गुठलियों के दाम' वाली कहावत यदि किसी वृक्ष/फल के बारे में अक्षरशः सत्य प्रतीत होती है तो इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है - नीम।

नीम के बीजों से तेल निकालने के लिये कुटीर या लघु उद्योग इकाई लगाई जा सकती है। यद्यपि इसी इकाई में अनेक अन्य अखाद्य बीजों जैसे करंजा, महुआ, पलास, कुसुम, अरण्डी, तुम्बा आदि का भी प्रक्रियाकरण किया जा सकता है तथा एक्सपेलर को धोकर/साफ करके इसमें खाद्य तेल भी निकाले जा सकते हैं परन्तु प्रस्तुत इकाई में केवल नीम के बीजों को ही प्रक्रियाकृत किया जाना प्रस्तावित है।

नीम एवं नीम के उत्पादों का कीट व्याधि नाशक के रुप में उपयोग नया नहीं है। पूर्व काल से ही हमारे देश के कृषक यह जानते थे कि नीम एक मात्र ऐसा वृक्ष है जो असंख्य टिड्डियों के आक्रमण से बचा रहता है। नीम की पत्तियों का प्रयोग अनादि काल से सुरक्षित अन्न भण्डारण में किया जा रहा है। विगत वर्षो से नीम वृक्ष की गुणवत्ता परखने के लिये अनुसंधान होते आ रहे हैं। परन्तु इसका उपयोग सीमित ही रहा है।

कुछ वर्षो पूर्व ही इसकी गुणवत्ता की परख विभिन्न क्षेत्रों में की गयी व उपयोग वृहद् रुप से बढ़ा है। नीम के सभी भाग, जड़, तना, पत्ती, फूल व फलों में कीटनाशक गुण पाये जाते हैं। निम्बौली में यह गुण सबसे अधिक पाया जाता है।

वर्तमान में नीम आधारित बहुत से उत्पाद बाजार में उपलब्ध हैं। देश में 40 ऐसी प्रौद्योगिक इकाईयाँ हैं जो 37 विभिन्न उत्पादों का उत्पादन कर रही हैं एवं जिनका बाजार मूल्य रूपये 300-400 मिलियन रहा है। अब हमारी यह नितान्त आवश्यकता है कि हम इन्हीं उत्पादों का उपयोग दिनों-दिन अनुसंधानों द्वारा बढ़ायें एवं कृषकों को इनकी उपयोगिता के बारे में विस्तार एवं प्रसार के द्वारा विस्तृत जानकारी दें। ऐसे कार्यक्रमों को बढ़ावा दें जिनके द्वारा कृषक भाई इन नीम एवं नीम के उत्पादों को अपनी खेती की तकनीक में पूर्ण रूपेण सम्मिलित करें। इससे समेकित नाशीजीव प्रबन्धन, जैविक खेती एवं पर्यावरण सन्तुलन के मूलभूत सिद्धान्तों को बल मिलेगा।

नीम का कीटों पर प्रभाव

अनुसंधानों के बढ़ते क्रम में यह निष्कर्ष निकाला जा चुका है कि नीम के उत्पाद कीटों की 200 से अधिक प्रजातियों को विभिन्न अवस्थाओं पर प्रभावित करते हैं। नीम के वृक्ष से तैयार किये जाने वाले विभिन्न उत्पाद कीटों के लिये बहुउपयोगी हारमोन्स के आकार-प्रकार पर निर्धारण करते हैं। कीटों का शरीर इन नीम के तत्वों को सोख लेता है।

ये हार्मोन्स अंतः प्रणाली को सुचारु रुप से चलाने में व्यवधान उत्पन्न करते हैं तथा कीटों के स्वभाव एवं शरीर कार्यिकी में परिवर्तन पैदा करते हैं। जिससे कीटों का मस्तिष्क एवं शीरी प्रजनन कार्य करने के लिये अस्थिर हो जाता है एवं उनकी संख्या सीमित रह जाती है।

नीम का रोग पर प्रभाव

आज तक जितने भी अनुसंधान एवं उपयोग हुये हैं सभी में नीम कीटनाशक के रुप में ज्यादा उपयोग हुआ है। नीम की निंबौली के सत में सीमोनाइड नामक तत्व निकाला जाता है जिसमें कीटनाशक गुण होते हैं। नीम के तेल के उपयोग का उल्लेख कहीं-कहीं पर किया गया है। इसके तेल में भी अन्य तेलों के समान समानता पायी जाती है, परन्तु कृषि विभाग, अमेरिका के अनुसंधानकर्ताओं ने यह परिणाम निकाला है कि नीम के तेल में भी जीवनाशीय गुण पाये जाते हैं और इसका उपयोग पौध रोग नियंत्रण में भी किया जा सकता है। उन्होंने इसका उपयोग प्रमुख विनाशकारी रोग जैसे भभूतिया, चूर्णिल, आसिता एवं गेरुआ के नियंत्रण के लिये सफलतापूर्वक किया और यह प्रमाणित किया कि नीम के तेल के उपयोग से पौधों पर किसी भी प्रकार का कोई दुष्प्रभाव नहीं पड़ता। सर्वप्रथम पौध-रोग वैज्ञानिक जेम्स लूक ने नीम के तेल एवं जल के मिश्रण का उपयोग प्रभावी रुप से किया। उन्होंने सर्वप्रथम यह सिद्ध किया कि नीम के तेल में फफूंदनाशक एवं कीटनाशक दोनों प्रकार के गुण होते हैं जबकि इसमें अजेडिरेचटिन नामक तत्व नहीं होता। इसके बाद, एक अन्य वैज्ञानिक जेरिनि स्आवेली ने अपने अनुसंधानों द्वारा यह सिद्ध किया कि दलहनी वर्गीय सब्जियों में लगने वाले गेरुआ रोग के नियंत्रण के लिये नीम के तेल का उपयोग 100 प्रतिशत प्रभावकारी होता है। निम्नलिखित विभिन्न रुपों में इनका उपयोग किया जा रहा है एवं भविष्य में इनके विस्तार की सम्भावनायें भी प्रबल हैं।

1. फफूंदनाशक के रुप में

विश्वभर में नीम का उपयोग वृहद् रूप से फफूंदनाशक के रुप में हो रहा है। चाहे फसल हो या वृक्ष, यह सर्व विदित है कि फफूंद/कवक अनेकानेक प्रकार से फसल को हानि पहुँचाते हैं। जिनकी गणना उग्र रुप में की जाती है इनमें से कुछ एक प्रमुख पौध रोगों को फफूंद नाशकों एवं रसायनों द्वारा कम किया जा सकता है। देश के मुख्य खाद्यान्न जैसे गेहूं, धान, मक्का पर भी इन रोगों का प्रकोप होता है।

नीम के तेल का उपयोग,चने के लगने वाले उगरा के प्रमुख रोग जनक जैसे राइजोक्ट्रानिया सोलेनाई, स्केलेरोशियम रोल्फसाई एवं फ्यूजोरियम ऑक्सीस्पोरम की रोकथाम के लिये सफलतापूर्वक किया जा चुका है। नीम के उत्पादों का एक अन्य उत्पाद है जिसे निम्बोली के नाम से जाना जाता है। इसका भी उपयोग दिनों-दिन बढ़ता जा रहा है क्योंकि यह सरलता से उपलब्ध हो जाती है व पर्णो पर लगने वाले विभिन्न रोग जैसे- चूर्णिल, आसिता की सफल नियंत्रक भी है।

2. विषाणुनाशक के रुप में

हानिकारक विषाणुओं के फैलाव का पकीर्णन कीटों, धूल के कणों या अनावश्यक रुप से भरे पानी द्वारा होता है। अनुसंधान द्वारा ऐसे कई रसायनों को खोजा गया है जिनमें पशुओं व मनुष्यों में होने वाले विषाणुजनित रोगों को नियंत्रित किया जा सकता है। परन्तु ऐसा कोई भी रसायन नहीं खोजा गया जिससे कि पौधों में विषाणु द्वारा हो रही क्षति को रोका जा सके। नीम के सत में ऐसा गुण पाया जाता है जिससे कि नीम के उत्पाद कीटों द्वारा विषाणुओं के प्रसारण को सीमित करते हैं। इसके विभिन्न सफल प्रायोगिक उदाहरण निम्नलिखित हैं। धान की फसल में लगने वाले प्रमुख टंगरु वायरस रोग की तीव्रता को नीम के तेल के छिड़काव से कम किया जा सकता है जो कि धान में भूरा फुदका द्वारा पैदा होता है। नीम एवं सीताफल के तेल के मिश्रण द्वारा धान के टंगरों में विषाणु द्वारा उत्पन्न रोग को नियंत्रित किया जा सकता है।

हमारे देश में नीम की पत्ती के सत द्वारा तम्बाकू मोजेक वायरस की रोकथाम सफलतापूर्वक की गयी जो कि कद्दूवर्गीय साग-सब्जी में लगने वाला प्रमुख रोग है।

3. सूत्र कृमि नाशक के रुप में

नीम के उत्पादों का भूमि उपचार के रुप में उपयोग सूक्ष्म जीवों के अलावा विभिन्न सूत्रकृमियों को भी प्रभावित करता है, जो अपना जीवन यापन भूमि में या पौधों की जड़ों के आस-पास करते हैं। सूत्र कृमी एक प्रकार के विनाशकारी सूक्ष्मजीव हैं जिनका स्वरुप सूत्र के समान होता है। बाजार में बढ़ रही सूत्रकृमी नाशकों की मांग को इनके अत्यधिक विषैले प्रभाव एवं पर्यावरण के लिये असुरक्षा ने इनके उपयोग को और भी कम कर दिया है। नीम के उत्पादों का उपयोग इस दिशा में एक प्रभावकारी कदम है। नीम में निहित लीमोनोइड के यौगिक जो कि निम्बोल से निकाले गये हैं जडगॉठ सूत्रकृमी के लिये अत्यन्त ही प्रभावकारी हैं जिनके प्रकोप से लगभग सभी वर्ग की फसलें व पौधे प्रभावित होते हैं। लीमोनोइड के तत्व सूत्रकृमी की इल्ली की वृद्धि एवं उसके अंडों के वृद्धि एवं विकास पर रोक लगाते हैं। यह बहुत ही कम सांद्रता पर सूत्रकृमियों पर नियंत्रण कर सकता है। नीम का तेल निकालने के बाद जो भी अवशेष रह जाता है अगर उसका पानी से घोल बनाकर उपयोग किया जाये तो भी सूत्रकृमियों के प्रकोप को कम किया जा सकता है।

जैविक कीट नियंत्रक

वनस्पति आधारित :

इसमें मुख्यतः नीम, करंज, आक के पत्तों का रस या बीजों के तेल को छिड़काव में प्रयोग किया जाता है। प्राचीन ज्ञान के आधार पर इसमें गो मूत्र मिलाने से इसकी क्षमता कई गुना बढ़ जाती है। इस प्रकार के कीट नियंत्रक एकल किसान या स्वयं सहायता समूह द्वारा बनाये जा सकते हैं। गौशालाओं से सहयोग लेकर इनका बड़े स्तर पर उत्पादन किया जा सकता है।

- 100 लीटर गोमूत्र में 10 किलो नीम की पत्ती + 10 किलो आक की पत्ती + 10 किलो कुटा हुआ लहसुन मिलाकर मिट्टी या प्लास्टिक के पात्र में भूमि के अन्दर या छाया में ढककर रख देते हैं। 10-15 दिन बाद इस मिश्रण को छानकर 1.5 या 50 लीटर की बोतल/जरीकेन में पैक कर बेचते हैं। यह कीट नियंत्रक 3 माह तक प्रयोग के लिये ठीक रहता है। इसकी एक लीटर मात्रा 15-20 लीटर पानी में मिलाकर प्रत्येक 10-15 दिन बाद छिड़काव करना चाहिये। एक लीटर की लागत 4-5 रूपये आती है और 10 रूपये/लीटर में बिक जाती है।

नीम का तेल या खली के उपयोग

नीम के तेल के लिये विशाल बाजार उपलब्ध है। नीम के तेल के अनेक उपयोग हैं जिनमें से कुछ प्रमुख उपयोग निम्नानुसार हैं -

- समन्वित कीट प्रबन्धन में नीम के उपयोग
- नीम के तेल का उपयोग कीट नियंत्रक के रुप में
- मच्छर भगाने में नीम के तेल का उपयोग
- नीम तेल से औषधियों का निर्माण
- नीम तेल का साबुन निर्माण में उपयोग
- कॉस्मेटिक्स में उपयोग
- लुब्रीकेन्ट के रुप में
- नीम तेल का निर्यात

करौंदा : परिचय

करौंदा का वानस्पतिक नाम बंतपें बंतंदकें है, यह पूरे भारत में पाया जाता है; विशेषकर अर्धशुष्क क्षेत्रों में। करौंदे को घरेलू बगीचे, खेतों व बगीचों में बाड़ के रुप में उगाया जाता है। करौंदे का उपयोग भारतीय रसोई में अधिकतर अचार, मुरब्बा बनाने में किया जाता है। यह एक मजबूत, गर्म व शुष्क जलवायु को झेल सकने वाला पौधा है जो विभिन्न प्रकार की मिट्‌टी में उग सकता है।

करौंदे का पौधा एक सदाबहार झाड़ी के रुप में होता है जो 2-4 मीटर तक ऊँचा होता है। इस पौधे के तने में सफेद लेटेक्स भरपूर होता है और शाखाओं में कांटे होते हैं। करौंदे के फूल छोटे, 3-5 सेमी व्यास के सफेद रंग के होते हैं। करौंदे के फल 3 से 10 के झुण्ड में होते हैं। फल गोलाकार या अण्डाकार होता है जिसमें कई बीज होते हैं। नए कच्चे फल सफेद-गुलाबी रंग के होते हैं जो पक कर लाल बैंगनी हो जाते हैं। करौंदे का फल प्रजाति के अनुसार सफेद, हरा, गुलाबी या लाल रंग का होता है। पौधों में जनवरी-फरवरी माह में फूल आने शुरु होते हैं और मई-जून तक फल परिपक्व हो जाते हैं।

पत्तियाँ : पत्तियाँ 4-6 इंच लम्बी, 2-3 इंच चौड़ी, लम्बी कोणाकार, ऊपर से हरी व नीचे से भूरी होती हैं।

पुष्प : सफेद या पीले रंग के फूल समूह में होते हैं।

फल : अण्डाकार आकृति के फल 5-10 के समूह में होते हैं, ये बगैर बालों के सख्त व रेशायुक्त होते हैं।

छाल : इसकी छाल सलेटी रंग की होती है। छाल मोटी, मुलायम और अंदर से लाल होती है।

रासायनिक तत्व : करौंदा का फल आयरन और विटामिन सी का अच्छा स्रोत है।

कल्टीवेशन : करौंदा पानी की कमी व सूखे को झेल सकने वाला पौधा है और यह उष्ण और समशीतोष्ण जलवायु में भली प्रकार पनपता है। तेज वर्षा और पानी के रुकाव वाली परिस्थितियाँ इसके अनुकूल नहीं है। यह विभिन्न प्रकार की मिट्‌टी, क्षारीय या लवणीय मिट्‌टी में उग सकता है।

करौंदे को सामान्यतः बीज की मदद से उगाते हैं। तने की कलम भी लगाई जा सकती है परन्तु यह पद्धति अधिक प्रचलन में नहीं है। अगस्त-सितम्बर माह में नर्सरी में ताजे बीजों को बोया जाता है। एक साल के अंकुरित पौधों को नर्सरी से निकालकर बाहर रोपण करते हैं।

करौंदा की खेती में एयर लेयरिंग पद्धति भी काफी कामयाब है। इसे मानसून के शुरु में किया जाता है। लेयरिंग के 3 महीने बाद जड़वाली लेयर को अलग कर रोपण किया जाता है।

खाद एवं उर्वरक : करौंदे के पौधे को ज्यादातर सीमावर्ती बाड़ के रुप में लगाया जाता है और इसे खाद या उर्वरक की विशेष जरुरत नहीं होती। फिर भी खाद के तौर पर पौधों व खेत के कचरे से बनी खाद या कम्पोस्ट का इस्तेमाल होता है और खाद फूल निकलने से पहले की अवस्था में डाली जाती है।

सिंचाई : करौंदे को बहुत कम पानी की जरुरत होती है। पौधारोपण व खाद डालने के बाद सिंचाई जरुरी है। पौधा एक बार स्थापित होने के बाद अधिक पानी नहीं मांगता।

भण्डारण : उत्तर भारत में फल जुलाई से सितम्बर के मध्य पकते हैं। करौंदे के फल लगने के बाद 100-110 दिन के भीतर परिपक्व होते हैं। इस काल में उनका प्राकृतिक रंग भी विकसित होता है। फल लगने के बाद लगभग 120 दिन में पक कर मुलायम व गहरे बैंगनी/लाल रंग के हो जाते हैं। फलों को तोड़कर छायादार स्थान में रखा जाता है। परिपक्व फलों को तुड़ाई के बाद कमरे के तापमान पर एक सप्ताह तक रखा जा सकता है।

सल्फर डाई ऑक्साइड सॉल्यूशन में फलों को 6 महीने तक प्रिजर्व कर के रखा जा सकता है।

करौंदा भारत, म्यानमार, मलाक्का और श्रीलंका में बहुत पाया जाता है।

औषधीय पौधे के रुप में करौंदा : करौंदा एनेमिया, जिगर रोग व चिड़चिड़ापन, क्रोध आदि के उपचार में काम आता है।

करौंदा स्त्री के प्रजनन स्वास्थ्य में लाभकारी है और पेट से कीड़े निकालने का काम भी करता है। करौंदा में जीवाणुनाशक व कवकनाशक गुण है और करौंदे का रस पुराने संक्रमित जख्मों को साफ करने के काम आता है। अन्य चर्म रोगों में भी करौंदे का रस लगाया जाता है। करौंदे का फल दर्द निवारक और संक्रमणनाशक है। प्राचीन समय से करौंदे का उपयोग भूख न लगने व थकान के उपचार में किया जाता रहा है।करौंदे की पत्तियों के आर्क (काढ़ा) का उपयोग बुखार, दस्त व कान के दर्द का उपचार करने में होता है।

परम्परागत औषधीय उपयोग :

छत्तीसगढ़ में परम्परागत वैद्य विभिन्न प्रकार के कैंसर का उपचार करौंदा से करते हैं। वे इस पौधे के विभिन्न भागों का उपयोग कैंसर के जख्म ठीक करने में करते हैं। करौंदे का बनाने के लिए इसकी जड़, फूल, कांटे पत्तियाँ और फल को बराबर मात्रा में लेकर तथा कूटकर पतला पेस्ट बनाया जाता है। इस पेस्ट को कैंसर की प्रारम्भिक अवस्था में लगाया जाता है। इस पेस्ट को पानी में उबालते हैं और जब पानी आधा हो जाता है तब उबालना रोक देते हैं। इस घोल को गुनगुना करके इससे कैंसर के जख्मों को धोते हैं। वैद्यों का मानना है कि इस में कैंसर के जख्मों को भरने की अपार क्षमता है। कई बार तो यह नीम से भी ज्यादा प्रभावकारी है। कई वैद्य इस पेस्ट को सरसों के तेल में उबालते हैं और जब पानी पूरी तरह उड़ जाता है तो उबालना बंद करते हैं फिर इसे जख्मों पर लगाने के काम में लेते हैं।

अन्य प्रभाव : इसकी जड़ों में कार्डियक ग्लाईकोसाइड होता है जिससे रक्तचाप कम हो सकता है।

अन्य उपयोग :

करौंदा भूखवर्धक है, आंत से कीड़ों को निकालता है। करौंदे का उपयोग अचार, मुरब्बा, जैम-जैली, शर्बत एवं चटनी आदि बनाने में होता है। पके हुए फलों को तोड़ने पर सफेद लेटेक्स निकलता है। फल में गुण होते हैं व इसका उपयोग और रंगाई में होता है। फल को पकाने पर शुरु में लेसदार द्रव्य निकलता है जो बाद में लाल रंग के रस में बदल जाता है। गर्म मौसम में इस रस को ठंडक पाने के लिए पीते हैं। करौंदे का प्रयोग सेब का जूस बनाने में भी होता है। पके हुए करौंदे में पेक्टिन प्रचुर मात्रा में होता है जिससे जैम, जैली, शर्बत, सांद्र रस व चटनी बनती है।

राजस्थान में मिर्च के साथ करौंदे की सब्जी बनाई जाती है। जो बहुत स्वादिष्ट होती है।

लाभ :

- औषधीय पौधे के रुप में करौंदा के कई लाभ हैं।
- करौंदे की पत्तियाँ टसर रेशम के कीड़ों का भोजन है।
- करौंदे की लकड़ी से रसोई की वस्तुएं व बर्तन जैसे खाना बनाने का चमचा आदि बनाए जाते हैं।
- कीड़े मकोड़े भगाने के लिए जड़ का पेस्ट काम में लेते हैं।
- फल के गुण के कारण इसे और रंगाई में उपयोग करते हैं।
- चर्म रोगों में करौंदे का रस त्वचा पर लगाना लाभकारी होता है।
- करौंदा की जड़ों से हिस्टामिन तत्व निकलता है।
- भूख न लगना व जैसे रोगों में करौंदा अच्छी औषधि है।
- करौंदे के तने में ट्राइटर्पीन एसिड होता है, जिसमें ज्वरनाशक गुण होते हैं तथा यह बुखार कम करने में काम आता है।

आर्थिक :

पूरे भारत में करौंदे का अचार बहुत पसन्द किया जाता है। करौंदा का फल बाजार में खूब बिकता है। जैली और कैण्डी बनाने में भी करौंदे का फल काम आता है। पके हुए फल से शर्बत, सांद्र रस और पेय भी तैयार किया जाता है। करौंदे को सुखाकर भी प्रयोग में लेते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में करौंदे के अचार, मुरब्बा, जैम, जैली, शर्बत, सान्द्र रस, चटनी आदि की बड़ी मांग है। करौंदे से बनने वाले खाद्य पदार्थ घरेलू एवं वृहद स्तर पर कम्पनियों द्वारा बनाए व बेचे जाते हैं।

शोध : एक अध्ययन द्वारा ज्ञात हुआ है कि करौंदे की जड़ में। करौंदे की जड़ का एथेनॉलिक एक्सट्रैक्ट दौरे की अवधि को कम भी करता है। मेडिकल रिसर्च दर्शाते हैं कि करौंदा खाने से कोलेस्ट्रॉल कम होता है।

बेल एक बहुपयोगी वृक्ष

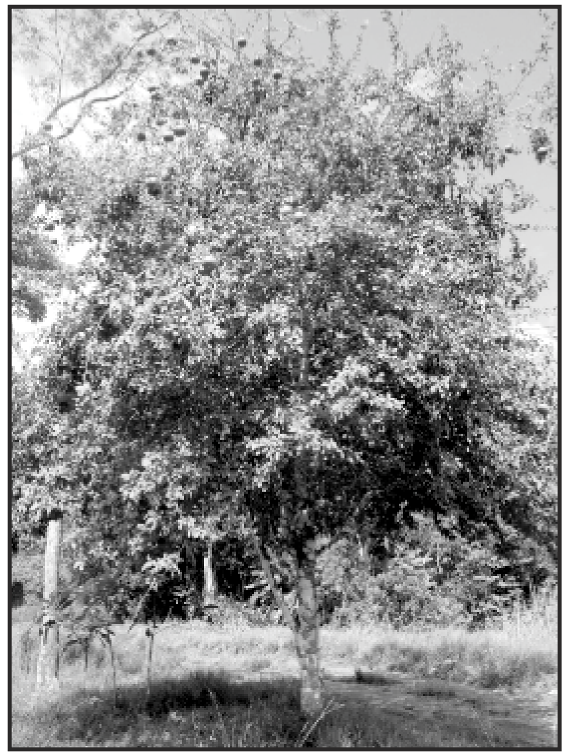

परिचय : भारत की प्रमुख औषधीय वनस्पतियों में से एक बेल का वृक्ष है। प्राचीन 'चरक संहिता' में इस वृक्ष के प्रत्येक भाग तना, छाल, जड़, पत्ती एवं फल का औषधीय उपयोग वर्णित है। पका हुआ बेल का फल पेट साफ करने की उत्तम दवा है। यह आंतों को मजबूत एवं साफ करता है। पके हुए फल का गूदा शर्बत बनाने के काम आता है और पके फल के गूदे को ताजा या सुखा कर खाया जा सकता है। बेल के वृक्ष को पवित्र माना जाता है। बेल के फल का औषधीय महत्व है और इसका आयुर्वेद व होम्योपैथी में व्यापक उपयोग है।

प्रचलित नाम

हिन्दी : बेल, सिरफल

इंग्लिश : बेल ट्री, होली फ्रूट ट्री

लेटिन : **Aegle marmelos**

संस्कृत : बिल्व, श्रीफल

बेल वृक्ष : बेल एक मध्यम आकार का वृक्ष है जिसकी ऊँचाई 8 से 10 मीटर तक होती है। वृक्ष में मजबूत तना और सीधी लंबी शाखाएं होती हैं। इसकी पत्तियां मीठी सुगंधवाली और फूल हरे-सफेद रंग के होते हैं। इसका फल बड़ा, सख्त लकड़ी जैसा 5-15 सेमी. व्यास का होता है। इसके फल में मोटे सुंगधित गूदे के अन्दर ढेर सारे बीज होते हैं।

रासायनिक तत्व : बेल के वृक्ष के विभिन्न भागों में विभिन्न रासायनिक तत्व होते हैं; मुख्यतः एल्केलॉइड, स्टिरॉइड और कूमारिन। पत्तियों में स्टेरॉल और ऐजेलिन होता है। फूल का मुख्य तत्व मारमोरोसिन एक तत्व इम्पेराटोनिन के समान होता है। फल में पाए जाने वाले अन्य कूमारिन हैं आल्टोइम्पेराटोरिन और बी साइटोस्टेरॉल। वृक्ष की जड़ों में सोरालिन, जैन्थोटॉक्सिन, स्कोपोलेटिन और टेम्बामाइड रसायन होते हैं।

खेती (कृषि) :

मिट्टी एवं मौसम : बेल का वृक्ष रेतीली, चिकनी, दलदली, बिना पानी वाली, अम्लीय या क्षारीय किसी भी प्रकार की मिट्टी जिसका पी.एच. 5-10 के बीच हो में उगता है। बेल के वृक्ष में शुष्क, अर्धशुष्क से नम जलवायु के अनुकूल बढ़ने की क्षमता होती है तथा 7 डिग्री सेल्सियस से 48 डिग्री सेल्सियस तक तापमान झेलने की क्षमता होती है।

रोपण : बेल वृक्ष का रोपण बीजों द्वारा किया जाता है। बेल के बीजों को सामान्य भण्डारण की स्थिति में लम्बे समय तक सम्भाल कर नहीं रखा जा सकता।

पौधे के लिए निराई, गुड़ाई और पौधारोपण नर्सरी में किया जाना चाहिए।

खाद्, उर्वरक और पेस्टीसाइड : बेल के पेड़ में अक्सर नाइट्रोजन व जिंक की कमी पाई जाती है और इसको मिट्टी में उर्वरक मिलाने तथा स्प्रे द्वारा दूर किया जा सकता है। बेल के ऊपर कई प्रकार के कीट रहते हैं। कीट नियंत्रण के लिए कीटनाशक का छिड़काव करना चाहिए। बैक्टीरियल शॉट होल, फ्रंट कैन्कर और गमोसिस कुछ गम्भीर रोग हैं जिनसे बचाव पेस्टिसाइड द्वारा किया जाना चाहिए।

छंटाई : शाखाओं की छंटाई साल में दो बार की जा सकती है, एक बार मई में और दूसरी बार अगस्त में। मई में सूखी एवं रोगग्रस्त शाखाओं की छंटाई की जाती है जबकि अगस्त में ताजा पत्तियों को बिक्री के लिए तोड़ा जाता है। बेल की पत्तियाँ मंदिर में भगवान पर चढ़ाने के काम में ली जाती हैं।

फलन : फलों को पकने में करीब 11 महीने लगते हैं। फलों का रंग जब पीला हो जाता है तब इन्हें तोड़ते हैं। एक वयस्क वृक्ष से 400-1000 तक फल प्राप्त होते हैं।

बेल एक औषधीय वृक्ष : बेल के वृक्ष का प्रत्येक भाग तना, जड़, छाल, पत्ते एवं कच्चे व पके फल सभी का अपना औषधीय महत्व है और लम्बे समय से इनका उपचार में उपयोग होता आ रहा है।

- ताजा पका हुआ बेल का फल मीठी खुशबू वाला होता है और इसका उपयोग दस्त, अतिसार, यकृत के रोग, टी.बी. भूख न लगना, दिल व दिमाग के रोगों में होता है।
- जड़ के अन्दर दस्तरोधी, सांप के जहर का विषनाशक, प्रदाहरोधी और घाव को भरने के गुण होते हैं।
- पका हुआ बेल का फल सभी कब्जनाशकों में उत्तम माना गया है। यह आंतों को साफ करता है और मजबूती प्रदान करता है। लगातार 2-3 महीने तक इसका दैनिक उपयोग सूखे कड़े मल को भी निकाल कर मलत्याग आसान बनाता है।
- दस्त एवं अतिसार में अधपका बेल का फल बहुत प्रभावी दवा है। सूखा हुआ बेल या इसका पाउडर भी दवा के रुप में काम आता है।
- पेप्टिक अल्सर जैसे रोग में बेल की पत्तियां अत्यन्त लाभकारी हैं। इन पत्तियों को रातभर पानी में भिगो कर रखते हैं और सुबह छान कर इस पानी को पीने से अल्सर में राहत मिलती है।
- मधुमेह रोग में शर्करा के स्तर को कम करने में बेल की पत्तियां उपयोगी हैं।

अन्य उपयोग :

बेल का फल अतिपोषक फलों में से एक है जिसमें राइबोफ्लेविन प्रचुर मात्रा में होता है। इसका उपयोग शर्बत, टॉफी, गूदे का पाउडर और सुगंधित एसेंस बनाने में किया जाता है। बेल की पत्तियों और बीज में कीटनाशक गुण होते हैं।

बेल में पोषक तत्व बेल के फल में प्रति 100 ग्राम खाने योग्य भाग में 16.5 प्रतिशत नमी, 1.8 प्रतिशत प्रोटीन, 0 प्रतिशत वसा, 1.7 प्रतिशत खनिज, 2.9 प्रतिशत रेशा (फाइबर), 31.8 प्रतिशत कार्बोहाइड्रेट होता है। बेल में पाए जाने वाले खनिज एवं विटामिन में कैल्सियम, फॉस्फोरस, आयरन, कैरोटिन, थायमिन, राइबोफ्लेविन, नियासिन और विटामिन सी होते हैं। इसकी वाइटल एनर्जी वैल्यू 137 है।

आर्थिक लाभ : बेल के सूखे फल की बाजार में बहुत मांग है। परिवार एवं स्वास्थ्य कल्याण मंत्रालय ने बेल के स्वास्थ्य पर सकारात्मक प्रभावों को देखते हुए बेल की उपज को वृहद स्तर पर प्रोत्साहित करने का सोचा है ताकि किसानों को आर्थिक लाभ हो और परम्परागत दवाओं को भी बढ़ावा मिले।

आधुनिक शोध : बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी के शोधकर्ताओं ने बेल के बीजों से एक नया मोलिक्यूल (तत्व) खोजा है जिसमें कवकनाशक गुण हैं। शोधकर्ता इसके द्वारा एक नई दवा बनाने का प्रयास कर रहे हैं। इस मोलिक्यूल का नाम है होमोइम्पेराटोरिन।

बेल के फल का सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि इसका कोई दुष्प्रभाव नहीं है।

बबूल

एकेसिया नीलोटीका (अरबी गोंद का वृक्ष, इजिप्शियन थोर्न, या प्रिकली एकेसिया; को ऑस्ट्रेलिया में थॉर्न मिमोसा, दक्षिण अफ्रीका में लेक्केरुइक्पियुल और भारत में बबूल या कीकर कहते हैं, यह पेड़ एकेसिया प्रजाति का होता है। यह अफ्रीका महाद्वीप एवं भारतीय उपमहाद्वीप का मूल वृक्ष है। वर्तमान में यह ऑस्ट्रेलिया में बहुतायत से बढ़ने वाली प्रजाति है। अभी तक इस प्रजाति की नौ भिन्न-भिन्न उप प्रजातियाँ पायी गयी है; जिसमें से तीन उप-प्रजातियाँ भारतीय उपमहाद्वीप में और बाकी छह उप-प्रजातियाँ अफ्रीका में पायी जाती हैं इसकी प्रजातियों को आकार, फूलों और फलियों के आधार पर वर्गीकृत किया जाता है।

नाम की व्युत्पत्ति और ऐतिहासिक पहलु

बबूल के अंग्रेजी शब्द अकाशिया निलोटिका का अकाशिया ग्रीक भाषा के अकिस से लिया गया है जिसका अर्थ 'शार्प पॉइंटर है और निलोटिका नील नदी के किनारे पाए जाने के कारण पड़ा है।

पर्यावास

इस प्रजाति के पेड़ बहुत ही शुष्क वातावरण और बाढ़ सहन कर सकते हैं. अन्य उप नदी निवास और मौसम के बाढ़ क्षेत्रों तक ही सीमित हैं. बबूल के पेड़ समुन्द्र तल से 1500 मीटर और पहाड़ों में 500 मीटर उंचाई पर ऊगते हैं. जलोढ़ मिट्टी इसके लिए सबसे अच्छी मानी जाती है, लेकिन यह 5 से 9 पीएच रेंज वाली भारी, चिकनी मिट्टी में भी अच्छी तरह से पनपता है।

खतरा भारी मात्रा में अगर इसके पत्ते या फल खा लिये जायें तो यह जहरीला हो सकता है।

विवरण

बबूल आमतौर पर 5 से 20 मीटर तक लम्बा होता है, इसका ऊपरी हिस्सा घना व गोलाकार होता है और इसका तना व शाखाएं काले रंग के होते हैं, इसकी छाल आमतौर पर फटी होती है तथा यह लाल रंग का कम गुणवत्ता वाला गोंद छोड़ता है, युवा पेड़ों में पतले, हल्के, सीधे व भूरे रंग के 2 से 3 इंच तक के लम्बे कांटें 3 से 12 के समूहों में पाए जाते हैं लेकिन परिपक्व पेड़ों में आमतौर पर कांटें नहीं पाए जाते।

खेती

बबूल का पेड़ धीमी गति से बढ़ने वाली प्रजातियों में से एक है, लेकिन इसका जीवनकाल आमतौर पर लम्बा होता है। इसके बीज बोने में कोई दिक्कत नहीं आती लेकिन इसे प्रच्छान की आवश्यकता होती है, खासतौर से जब इसके बीज ताज़ा न हो। बीज आम तौर पर 7 से 15 दिनों में उगने शुरू हो जाते हैं लेकिन इसके अंकुरण को अच्छे प्रकाश और आसानी से पानी अवशोषित करने वाली मिट्टी की आवश्यकता होती है। कलमों द्वारा इन्हें फिर से उगाया जा सकता है। यह हल्की ठंड से ज्यादा ठड बर्दाश्त नहीं कर सकते, परन्तु सूखे और गर्मी के लिए यह अत्यन्त प्रतिरोधी होते हैं लेकिन इसके अंकुरण को अच्छे प्रकाश और आसानी से पानी अवशोषित करने वाली मिटटी की आवश्यकता होती है। बबूल के पेड़ की जड़ की लगातार कटाई करते रहनी चाहिए, नर्सरी में पनपे अंकुरों को आम तौर पर छह महीने के बाद ही बोया जाता है लेकिन कुछ मामलों में ये लगभग एक साल तक के लिए नर्सरी में ही रहते हैं बोने के स्थान पर ही अंकुरों के बोने का समय निर्भर करता है और इनके अंकुर छाया नहीं बर्दाश्त नहीं कर सकते।

उपयोग

बबूल निलोटिका औषधीय उपयोगों का खजाना है। यह पेट खराब होने पर कारगर है और दर्द निवारक भी होता है, इसकी छाल को स्कर्वी रोग से रक्षा करने के लिए चबाया जाता है। पेचिश और दस्त में भी यह लाभदायक होता है। नाइजीरिया में यह दस्त के इलाज के लिए मानक दवाओं में से एक है। यह खुले घावों के लिए एक एंटीसेप्टिक के रूप में और खांसी के इलाज के लिए एक एक्स्पेक्टोरेंट के रूप में और पेट के कीड़े खत्म करने के लिए इस्तेमाल किया जाता है। यह पशुओं के इलाज में भी काम आ चुका है जैसे किरू मवेशियों के जिगर लूक्स कम करने के लिए मोल्युसिसाइड के रूप में, इसकी फलियाँ मवेशियों के चारे के रूप काम आती हैं तथा इसकी पत्तियां और ताज़ी फलियाँ दूध उत्पादन करने वाले मवेशियों के चारे में काम मिलती हैं जिसका सीधा असर बेहतर दूध उत्पादन में देखा जा सकता है। ताज़ा पत्तों से

बना लेप सिर दर्द में माथे पर लगाने से दर्द दूर हो जाता है। इसकी छाल का काढ़ा गले में खराश से राहत देता है तथा इस काढ़े का सेवन ब्रोंकाइटिस के इलाज के लिए किया जाता है और मधुमेह रोग में सूखी छाल का चूर्ण पानी के साथ मिलाकर लिया जाता है। बबूल का टूथपेस्ट बनाने में भी उपयोग होता है। उत्तरी भारत में बबूल की हरी पतली टहनियां दातुन के रूप में काम आती हैं। बबूल की लकड़ी का कोयला भी अच्छा होता है। हमारे यहां दो तरह के बबूल अधिकतर पाए और उगाये जाते हैं। एक देशी बबूल जो देर से होता है और दूसरा मासकीट नामक बबूल होता है। बबूल लगा कर पानी के कटाव को आसानी से रोका जा सकता है। जब रेगिस्तान उपजाऊ भूमि की ओर फैलने लगता है, तब इस स्थिति में बबूल के जंगल लगा कर रेगिस्तान के फ़ैलाव को रोका जा सकता है। इस प्रकार पर्यावरण को सुधारने में बबूल का अच्छा खासा उपयोग होता है। बबूल की लकड़ी बहुत ही मजबूत होती है और उसमें घुन नहीं लगता है। इसकी लकड़ी का प्रयोग खेती करने के औजार बनाने के लिए भी होता है।

इसके सूखे चारे, ब्राउज़, पत्ते और बीज काफी खाये जाते हैं. अत्यधिक अर्द्ध शुष्क अफ्रीका और भारत के क्षेत्रों में यह चारे और ईधन के रूप में मूल्यवान भी होता है। बबूल को भूमि पुनर्वास में अग्रणी प्रजाति के रूप में और मरुस्थलीकरण के लिए बाधा के रूप में भी इस्तेमाल किया जाता है। इसकी लकड़ी से रेलवे के स्लीपर बनाने में, बाड़ पोस्ट में और Ãधन की लकड़ी के लिए काफी इस्तेमाल किया जाता है। न खाए आने वाले दानों और गैर- लकड़ी भाग का इस्तेमाल गम/राल, टनीन/रंग बनानेवाला पदार्थ, पारंपरिक चिकित्सा और कशेरुकी जहर बनाने में होता है।

कीट व रोगों का प्रभाव

बबूल के पेड़ को कीट और देशी रोगों की एक विस्तृत श्रृंखला आराम से प्रभावित कर सकते है. इसके तने में पाया जाने वाला सेरोस्टेमा स्क्रेब्रेटर भारत के युवा बबूल के पेड़ों के लिए काफी नुकसानदायक होते हैं पत्ती खाने वाले कीटों के कारण कभी कभी पूरा का पूरा पेड़ पत्ते रहित हो जाता है. फफूंद रोग भी बबूल के लिए काफी हानिकारक होता है

धतूरा

धतूरा सबसे सुंदर, मोहक, व्यापक रूप से फैले हुए और विषाक्त पौधों में से एक है। यहां तक कि इसके बीज या पौधे के किसी हिस्से की थोड़ी सी मात्रा भी शरीर में तगड़ा उन्माद पैदा कर सकती है जो कि तीन से चार दिन तक भी चल सकता है। यह देखने में काफी ही सुन्दर और नाजुक लगता है परन्तु यह उससे भी ज्यादा घातक होता है। एक तरह की बढ़ती हुई और परेशान कर देने वाली प्रवृत्ति में कई युवा वयस्क इसका सेवन मदहोश और मतिभ्रमित होने के लिए कर रहे हैं।

इसे आमतौर पर जिमसन वीड या धतूरा के नाम से जाना जाता है। यह दुनिया भर में पायी जाने वाली सोलानासी प्रजाति का हिस्सा है। सदियों से धतूरा का उपयोग अस्थमा में राहत देने के लिए एक हर्बल औषधि के रूप में और सर्जरी या हड्डी बैठाने के दौरान दर्दनाशक के रूप इस्तेमाल किया जाता रहा है। हांलाकि इसमें पाया जाने वाले ट्रोपेन एल्कलॉइड (जो औषधीय और मतिभ्रम दोनों ही गुणों के लिए जिम्मेदार हैं) को औषधीय खुराक की तुलना में अगर थोड़ा सा भी अधिक लिया जाए तो यह शरीर में विषाक्तता फैला सकता है इसीलिए इसका ज़रा सा लापरवाह उपयोग अक्सर व्यक्ति को अस्पताल में भर्ती करने के साथ-साथ जान से भी मार सकता है।

धतूरा की पत्तियाँ आमतौर पर या तो सिगरेट में पी जाती हैं या फिर पाइप में। धतूरा को इस तरह पीने की प्रथा भारत की पारम्परिक आयुर्वेदिक चिकित्सा में जन्मी है। संयुक्त राज्य अमेरिका में इस पौधे को जिमसन वीड कहा जाता है और कुछ जगहों पर इसे जेम्सटाउन वीड कहा जाता है। इसे यह नाम वर्जीनिया के शहर जेम्सटाउन से मिला है। वैसे तो इसका पूरा पौधा ही ज़हर से भरा होता है लेकिन पत्तियों और बीजों में ज़हर खासतौर से पाया जाता है।

साधारण नाम

प्रजाति - सोलानासी

अंग्रेजी - वाइट थोर्न एप्पल, जिमसन वीड या डटूरा

लैटिन - डटूरा स्ट्रामोनियम

हिंदी - धतूरा

संस्कृत - धतूरा, उन्मत्ता, कनक, शिवप्रिय

तमिल - उन्मत्ता

तेलुगु - उन्मत्ता

मलयालम - उन्मत्ता

मराठी - धतूरा

गुजराती - धतूरा

बंगाली - धतूरा

धतूरा एक दुर्गंधयुक्त, सीज़नल और स्वतंत्र रूप से शाखाओं में बंटा हुआ हर्बल पेड़ है जो कि झाड़ी के रूप में 2 से 5 फीट (60-150 सेमी) की लम्बाई तक उगता है। इसकी जड़ लम्बी, मोटी, रेशेदार और सफ़ेद होती है तथा इसका तना मोटा, सीधा खड़ा, पत्तेदार, चिकना और पीलापन लिए हुए हरे रंग का होता है। इसके तने से कई कांटेदार शाखाएं निकलती हैं तथा हर एक काटेंदार शाखा पर एक पत्ता और एक सीधा फूल होता है, पत्ते लगभग 3 से 8 इंच (8-20 सेमी) लंबे, मुलायम, दांतेदार, चिकने और लहरदार होते हैं। इनके पत्तों की ऊपरी सतह गाढ़ी हरी और निचली सतह हल्की हरी होती है।

तीन से चार इंच चौड़े धतूरा के सफेद, पीले और बैंगनी रंग के फूल मई से लेकर पूरी गर्मियों तक खिले हुए रहते हैं संध्या होने पर परिदृश्य में यह आश्चर्यजनक फूल अन्य पौधों के विपरीत लुप्त होते प्रकाश को संग्रहित करके गोधूलि बेला में समाया हुआ सा लगता है। धतूरा की

मोती पत्तियाँ बनावट में अस्पष्ट होती है तथा 5 इंच तक चौड़ी और 8 इंच तक लम्बी हो सकती है। कुछ लोगों को धतूरा से एलर्जी होती है और धतूरा की पत्ती या इसके किसी भाग का एक स्पर्श तक ही उनको प्रभावित कर सकता है।

झाड़ीदार घास वाला यह पौधा सैकड़ों बीज पैदा करता है और इसके बीज प्राकृतिक रूप से हवा या जानवर द्वारा ही बिखर जाते हैं। धतूरा शायद ही कभी सर्दी झेल सके लेकिन कभी-कभी यह बारहमासी भी होता है। धतूरा अक्सर बढ़ने के साथ बीज छोड़ता है और गिरे हुए बीज बारहमासी दिखने वाले पौधे में पुराने पौधे के पास ही उगते हैं।

रासायनिक संघटक

धतूरा के सूखे पत्ते, फल और बीज में अल्काल,यड होता है और जब इसकी (जंगली धतूरों की बजाय) जुताई की जाती है तब इसमें ज्यादा मात्रा में अल्काल,यड पाया जाता है। अल्काल,यड के अलावा इसके बीजों में डिपल,यड-।। और टेराप्ल,यड-।। पाए जाते हैं।

खेती

धतूरा का पेड़ बीजों द्वारा उगाया जा सकता है और इन बीजों को एक-दूसरे से कई फीट की दूरी पर बोया जाता है। धतूरा ठण्ड के प्रति काफी संवेदनशील होता है और सर्दियों में इसका ढका हुआ होना अत्यंत आवश्यक होता है। इसके पौधो की फसल तब काटी जाती है जब इसके फल पके हुए लेकिन हरे हों। इसकी फसल काटने के लिए पूरा पौधा काट लिया जाता है और इसकी पत्तियों को अलग करके बचा हुआ भाग सूखाने के लिए छोड़ दिया जाता है और जब फल फट कर खुलने शुरू होते हैं तब इसके बीज निकाल लिए जाते हैं। घने रूप से बोयी हुई एक एकड़ ज़मीन लगभग 1,000 से 1,500 पाउंड (1,100-1,700 किलोग्राम / हेक्टेयर) की पत्तियाँ और 700 पाउंड (780 किलोग्राम / हेक्टेयर) के बीज का उत्पादन कर सकती है।

धतूरा की विषाक्तता

इसके सभी भागों में खतरनाक स्तर के ट्रोपेन एल्कल,इड एट्रोपाइन, ह्योस्यामाइन और स्कोपोलोमाइन होते हैं जो कि डेलीरिएंट या एन्टीकोलिनरजिक के रूप में वर्गीकृत हैं। बेख़बरी से ज्यादा मात्रा में सेवन करने वाले लोगों के लिए यह अत्यंत घातक हो जाता है और साइकोएक्टिव प्रभाव के लिए इसको निगलने वाले लोगों को कई बार अस्पताल में भर्ती करना पड़ जाता है। इसकी विषाक्तता की मात्रा पौधे विशेष पर निर्भर करती है तथा विषाक्तता की मात्रा में अंतर का अनुपात 5रू1 तक हो सकता है जो कि विशेषरूप से पौधे की उम्र, उगने के स्थान और स्थानीय मौसम की स्थिति पर निर्भर करती है।

औषधीय जड़ी–बूटी

धतूरा का इस्तेमाल लम्बे समय से अस्थमा के उपचार के लिए किया जा रहा है क्योंकि धतूरा में एन्टी-अस्थमटिक एट्रोपाइन होता है जो कि फेफड़ों में अस्थमा पैदा करने वाली फेफड़ों की शाखाओं को पैरालाइज़ करके ऐंठन दूर कर देता है।

जूनी और चीनी इसका प्रयोग सर्जरी के दौरान एनेस्थीसिया के रूप में किया करते थे। एट्रोपाइन और स्कोपोलोमाइन (दोनों ही धतूरा में भारी मात्रा में पाए जाते हैं) मसकैरीनिक एंटागोनिस्ट होते हैं जिनका उपयोग पार्किन्सन रोग, मूत्र तंत्र, श्वास तंत्र, जी. आई. तंत्र, दिल और आँख की बीमारी में किया जा सकता है। धतूरा का इस्तेमाल ड्रग्स छुडवाने की प्रक्रिया में सहायता प्रदान करने के लिए भी किया जाता है।

धतूरा के अन्य औषधीय उपयोगों में गले की खराश का इलाज, दांत दर्द से राहत पाने का इलाज और पैरासाईट का इलाज भी शामिल है। आयुर्वेद के अनुसार इसके बीज तीखे, कड़वे, टॉनिक, ज्वरनाशक, कृमिनाशक, विषनाशक और उबकाई देने वाले होते हैं। यह लयूकोडर्मा, त्वचा रोग, अल्सर, ब्रोंकाइटिस, पीलिया और बवासीर (अगरकर 1991) में भी उपयोगी होता है।

इसके सूखे पत्ते, फूल का उपरी सिरा और बीज का उपयोग अस्थमा में देशी चिकित्सा के रूप में होता है। इसकी पत्तियों और बीजों में मादक गुण होते हैं इसलिए इसका उपयोग पुराने समय में अपराधियों से सच उगलवाने के लिए भी किया जाता था। धतूरा की पत्तियाँ भारतीय बाजारों में उपलब्ध हर्बल सिगरेट का एक एकीकृत हिस्सा हैं। धतूरा में एल्कल,इड एट्रोपाइन, ह्योस्यामाइन और स्कोपोलोमाइन होता है एल्कल,इड एट्रोपाइन का इस्तेमाल केंद्रीय तंत्रिका तंत्र के शक्तिवर्धन और सल्फेट के रूप में आँखों की पुतली चौड़ी करने के लिए होता है।

होम्योपैथिक प्रणाली में धतूरा के परिपक्व बीज दवा के रूप में व्यापक रूप से इस्तेमाल किये जाते हैं जोकि मानव मस्तिष्क (घोष 1988) का इलाज करने के लिए जाना जाता है।

पारंपरिक चिकित्सा में धतूरा का इस्तेमाल

हृदय रोग – यह हृदय रोगियों की घबराहट, महाधमनी विकार और दर्द के इलाज और राहत में काफी उपयोगी है।

नपुंसकता – धतूरे के पके हुए फल के बीज जड़ी-बूटी के रूप में नपुंसकता के इलाज में प्रभावी होते हैं।

दूध स्त्राव – वे मांताएं जिनके बच्चे को दूध पिलाने का समय गुजार दिया है या वे जिनके बच्चे की दुर्भाग्यवश मृत्यु हो गयी हो, वे दूध का स्त्राव धतूरे की पत्तियाँ स्तन पर बाँध कर रोक सकती हैं।

एन्टीस्पेसमोडिक – काली खांसी और दमा के गंभीर मामलों में अमेरिकी और ब्रिटिश फार्माकेपोएआ धतूरे के सूखे पत्तों और बीजों को बैलाडोना के विकल्प के रूप में सूचीबद्ध किया है। इसका अकड़न विरोधी गुण अकड़न वाले विकारों को नियंत्रित करने में अमूल्य माना गया है।

अस्थमा – धतूरे की जलती पत्तियों से निकलने वाला वाष्प अस्थमा जैसी सांस की बीमारियों में काफी राहत प्रदान करता है।

मलेरिया – मलेरिया में रोगी बुखार के कारण कफ और पाचन विकार से पीड़ित होता है, इसलिए इस पौधे के फल को निगलवाकर उनका उपचार किया जा सकता है।

गंजापन – धतूरा जब बाल के तेल की अन्य सामग्री के साथ एक घटक के रूप में इस्तेमाल किया जाए तो वह गंजेपन के इलाज में फायदेमंद होता है।

धतूरे के पार्श्व प्रभाव

धतूरे की पत्तियाँ काफी जहरीली होती है इसलिए जो कोई भी इसे हैंडल करता हो उसे अपने हाथ पानी से धोते समय अत्यंत सावधानी बरतनी चाहिए। इसके विषाक्त प्रभाव की वजह से जड़ी बूटी के रूप में इसकी सामान्य खुराक 2 डेसीग्राम प्रति सेवन है। खुराक इससे ज़्यादा होने पर यह मुंह में सूखेपन और आँखों की पुतलियों में चौड़ेपन का कारण हो सकता है।

हृदय रोग, मोतियाबिंद, बढ़े हुए प्रोस्टेट, मूत्र कठिनाइयों, फेफड़ों में तरलता और आंत्र अवरोधों की समस्या झेल रहे रोगियों को धतूरे के सेवन करने से बचना चाहिए।

अर्थशास्त्र

भारतीय राष्ट्रीय बाजार में इसके बीज की दर 10-12 रुपये/किलो है।

हालिया शोध

दुनिया भर में किये गये कई अध्ययनों से पता चला है कि धतूरे में मौजूद एल्कल,इड फसलों के लिए काफी हानिकारक होता है। मदर्स (1995) की स्टडी से पता चला है कि एल्कल,इड, ह्योस्यामाइन और स्कोपोलोमाइन इसकी जड़ों में बनते है और फिर बाद में पत्तियों व बीजों में पहुँच जाते हैं। मैनस्के की 1950 की स्टडी ने कहा कि विकास के प्रारंभिक दौर में एल्कल,इड समान रूप से पूरे पौधे में वितरित होता है लेकिन उम्र बढ़ने के साथ यह फलों में जाकर इकठ्ठा हो जाता है। धतूरे का विभिन्न कृषि फसलों पर उत्तेजक ऐलोपैथिक प्रभाव पड़ने के बारे में भी सुना गया है।

मुलहठी

पाउडर लीकोरिस रूट (लीकोरिस रूट) या मुलहठी कफ में प्रभावी उपचार के रूप में काम आती है और इसका इस्तेमाल प्राचीन काल से ही होता आ रहा है। विशेष रूप से आयुर्वेदिक चिकित्सा में इसका प्रयोग दांत साफ़ करने वाले पाउडर में किया जाता था। खांसी के आधुनिक सिरप में भी अक्सर लिकोरिस तत्व का इस्तेमाल होता है।

पश्चिमी चीन, एशिया के कुछ हिस्सों, फारस, तत्कालीन सोवियत संघ और अफगानिस्तान के एशियाई गणराज्यों में इसका उपयोग प्रचुर मात्रा में किया जाता है। भारत में भी पंजाब एवं उप हिमालयी इलाकों में इसकी खेती की जाती है।

साधारण नाम

वानस्पतिक नाम : ग्लीसीरिहा ग्लाब्रा, लेग्युमिनोसै

लैटिन : नाम ग्लीसीरिहा ग्लाब्रा

अंग्रेजी : नाम लीकोरिस रूट

संस्कृत : यस्तिमधुह

हिन्दी : जेठीमध, मुलहठी

मराठी : जेस्तामधु

तमिल : अतिमधुरम

तेलगु : अतिमधुरम

मलयालम : इर्रत्तिमधुरम

कन्नड : जेस्थामधु

भारतीय नाम : यस्तिमधु

मुलहठी (लिकोरिस)पौधा

मुलहठी (लिकोरिस) बारहमासी उगने वाली जड़ी-बूटी है जो कि 7-15 सेंटीमीटर (3-6 इंच) तक लम्बी सुफ़नी पत्तियों और 9-17 पत्रकों के साथ 1 मीटर तक ऊँची उगती है। इसके फूल 0.8-1.2 सेमी (1/3 1/2 इंच) लंबे और बैंगनी से लेकर पीलापन लिए हुए हल्के नीले रंग के होते हैं जो कि शिथिल पुष्पक्रम में उगते हैं इसके फल बीज युक्त 2-3 सेंटीमीटर (लगभग 1 इंच) तक लम्बी आयताकार फली जैसे होते है।

रोपण और खेती

मुलहठी एक दृढ़ पौधा होता है जो प्राकृतिक रूप से अच्छी वन मिट्टी (5.5-8.2 पीएच वाली अम्लीय से लेकर थोड़ी क्षारीय मिट्टी) में उगता है। यह सूखे ठंडे तापमान से लेकर भूमध्य जलवायु में पाया जाता है जहाँ वार्षिक तापमान गर्मियों में 250 डिग्री सेल्सियस और सर्दियों में 50 डिग्री सेल्सियस तक घटता-बढ़ता हो।

6-8.2 पीएच वाली सैंडी दोमट उपजाऊ मिट्टी इसकी जड़ों के बेहतर विकास को अच्छा बढ़ावा देती है। यह पौधा ऐसे स्थानों पर अच्छी तरह पनपता है जहाँ इसकी फसल की अच्छी सिंचाई हो क्योंकि जड़ों की अच्छी उपज के लिए सिंचाई अत्यंत आवश्यक होती है।

रोपण : यह एक लंबी अवधि की फसल होती है इसलिए खेत अच्छी तरह से तैयार और समतल होने चाहिए, जिससे कि पानी खेत में ठहर सके। 2 से 3 आँख वाले 15-25 सेमी की भूमिगत तने व जड़ की कलमें 90X45 सेमी की दूरी पर मिट्टी में सीधे 6-8 सेमी की गहराई तक गाड़ी जाती है। इसके अलावा सिंचाई की सुविधा के लिए मेड़ों को 45-60 सेमी उठाकर बनाया जाता है इसे 60X45 सेमी की दूरी पर लगाया जाना चाहिए। इस तरीके से 250-300 किलो के गीले वजन वाले तने एक हेक्टेयर भूमि के रोपण के लिए आवश्यक होते हैं। कलमों का

अंकुरण रोपण के 15 से 20 दिनों बाद शुरू होता है। वसंत में रोपण के बाद जब तक कलमें पूरी तरह से अंकुरित होकर अपने आप को मिट्टी में पूरी तरह से स्थापित न कर लें तब तक इन्हें हल्की और लगातार सिंचाई की आवश्यकता होती है। ताज़ा रोपण फरवरी-मार्च और जुलाई-अगस्त में खड़ा किया जा सकता है।

विरलन और निराई

पौधों के स्वस्थ विकास के लिए रोपाई के पहले वर्ष में तीन से चार बार जुताई व निराई और बाद के वर्ष में दो हाथ जुताई व निराई खेतों को खरपतवार रहित रखने के लिए आवश्यक माना जाती है।

कटाई

यह माना जाता है कि अच्छी उपज ढाई से तीन साल पुरानी फसल से प्राप्त होती है। जड़ों की कटाई करने के लिए मैन्युअल खुदाई करने पड़ती है लेकिन यह बहुत महंगी पड़ती है। एक डिस्क हैरो विधि खुदाई के लिए काफी सफल और किफायती साबित हुई है। इसमें मिट्टी को पलट कर सूखने के लिए छोड़ दिया जाता है और बाद में जड़ों को छांट कर धो लिया जाता है।

इसकी जड़ों से उच्च ग्लिसिरीन अम्ल प्राप्त करने के लिए इसकी कटाई नवम्बर और दिसम्बर के महीने में की जाती है। फसल की कटाई के समय जड़ों में 50 से 60 प्रतिशत नमी होती है इसलिए कटाई के बाद 2-3 दिनों तक जड़ों को धूप में सुखाया जाता है और बाद के 10-12 दिनों के लिए इन्हें छाया में रखा जाता है।

मुलहठी का इतिहास

हजारों साल पहले आयुर्वेदिक ग्रंथों में मुलहठी का इस्तेमाल दवा के रूप में किये जाने का वर्णन किया गया है। मुलहठी का उपयोग सबसे पहले सीथीयंस के यूनानियों ने सीखा था। रोमन लेखक सेल्सस और सक्रीबोनियस लार्गस ने अपने उल्लेख में मुलहठी को रेडिक्स डलसिस कहा था। प्लिनी ने इसे किलिकिया मूल का कहा और पोंटूस ने इटली में इसके और अधिक बढ़ने का कोई संकेत नहीं दिया। मुलहठी को डायोस्कोराइड्स के समय में जाना जाता था और मध्यकालीन युग के दौरान जर्मनी में इसका उपयोग बड़ा ही आम था। इतिहास में इसका वर्णन इटली के बोलोग्ना इलाके के पिएरो डे क्रेसेंज़ी द्वारा खेती किये जाने का भी है जो कि तेरहवीं शताब्दी की बात है। ग्यारहवीं शताब्दी में जर्मनी में मुलहठी दवा के रूप में काफी चर्चित थी तथा इसकी व्यापक खेती सोलहवीं सदी में बवेरिया में की गयी थी लेकिन फिर भी इसका नाम मध्यकालीन पौधों की सूची में नहीं है। इंग्लैंड में इसकी छोटे स्तर पर खेती का अस्तित्व बहुत लंबे समय तक रहा। टर्नर हर्बल से यह प्रकट होता है कि 1562 में इंग्लैंड में इसकी खेती की जाती थी और स्टो ने कहा कि इसका रोपण और विकास महारानी एलिजाबेथ (1558) के शासन के पहले वर्ष में शुरू हुआ था।

मुलहठी के रासायनिक यौगिक

मुलहठी का प्रमुख घटक ग्लिसिरीन (प्रतिशत 6 से 8) होता है जो कि मीठे और सफेद क्रिस्टलीय पाउडर के रूप में प्राप्त किया जा सकता है। इस क्रिस्टलीय पाउडर में ग्लिसिरीन एसिड का कैल्शियम और पोटेशियम लवण पाया जाता है। मुलहठी में चीनी, स्टार्च (29 फीसदी), गम, प्रोटीन, वसा (0.8 फीसदी), राल, एस्पारेजिन (2 फीसदी से 4), जड़ की बाहरी छाल में बहुत थोडा सा टैनिन (पीले रंग का पदार्थ) और 0.03 फीसदी वाष्पशील तेल भी पाया जाता है।

मुलहठी के उपयोग

मुलहठी का इस्तेमाल बड़े पैमाने पर मदिरा को गाढ़ापन और कालापन प्रदान करने के लिए किया जाता है और इसका इस्तेमाल सिगरेट और च्युइंगम बनाने में भी किया जाता हैं।

संयुक्त राज्य अमेरिका में इसकी जड़ का एक नया उपयोग ढूँढा गया है जिसमे खराब जड़ों से लकड़ी के बक्से बनाए जाते हैं। जड़ों से लिकोरिस तत्व निकालने के बाद जड़ों को कचरा माना जाता था और उन्हें जला कर नष्ट कर दिया जाता था, लेकिन इस प्रकिया से खराब जड़ों को लकड़ी की लुगदी में ढाल कर उच्च दबाव द्वारा लकड़ी के बोर्ड बनाए जाते हैं जिनमें संतोषजनक प्रतिरोधक क्षमता और शक्ति होती है।

अपने शोषक गुणों के कारण इसकी जड़ों का पाउडर चिकित्सीय गोलियां बनाने में भी उपयोगी होता है। जिसकी वजह से गोलियों को कठोरता मिलती है और गोलियों का आसंजन अच्छी तरह से बना रहता है।

औषधीय गुण

- मुलहठी खांसी, तपेदिक, छाती की शिकायतों, विशेषकर ब्रोंकाइटिस के लिए एक लोकप्रिय और प्रसिद्ध उपाय है अपने बहुमूल्य सुखदायक गुणों के कारण इसका इस्तेमाल लगभग सभी लोकप्रिय खांसी की दवाओं में किया जाता है।
- द्रव के रूप में इसका तत्त्व दवाओं के भों स्वाद को दबाने का कार्य करता है क्योंकि इसमें तीखी या कड़वी दवाओं का स्वाद बदलने की उल्लेखनीय शक्ति होती हैं।
- पुराने समय में चिकित्सक इसका प्रयोग जलोदर के मामलों में प्यास को रोकने के लिए भी किया करते थे।
- मुलहठी से निकली चीनी को मधुमेह के रोगी आराम से ले सकते हैं।
- बहुत सी किस्म की औषधी बनाने में भी इसका प्रयोग किया जाता है; जैसे कि ट,निक बनाने में, एक्स्पेक्टोरेंट गुण के कारण कफ सिरप बनाने में और अत्यधिक पोषण गुण होने के कारण पोषक दवाओं में।
- एक एंटी-हेपेटोट,क्सिक के रूप में यह क्रोनिक हैपेटाइटिस और सिरोसिस के इलाज में बहुत कारगर होता है। जिस कारण जापान में यह व्यापक रूप से इस्तेमाल किया जाता है।
- यह कार्बन टेट्राक्लोराइड, बेंजीन हेक्साक्लोराइड और पीसीबी द्वारा उत्पन्न हेपेटोसाइट चोटों को रोकता है।
- एंटीब,डी उत्पादन ग्लिसिरीन की वजह से बढ़ता है, यह संभवतः इंटरल्यूकिन के उत्पादन के कारण बढ़ता है।
- एलोपैथिक चिकित्सा में इसका उपयोग पेप्टिक अल्सर के इलाज के रूप में किया जाता है। समान उपयोग गैसट्राईटिस और अल्सर के इलाज में हर्बल औषधी के रूप में किया जाता है।
- इसका उपयोग पेट दर्द में राहत प्रदान करने के लिए भी किया जाता है।
- यह मस्तिष्क में वृद्धि कपाल और मस्तिष्कमेरु द्रव का अच्छा पोषण करता है। साथ ही साथ रंग, बालों और दृष्टि में भी सुधार लाता है।

रोग और कीट

औषधीय पौधों को रासायनिक उर्वरकों और कीटनाशकों के उपयोग के बिना ही उगना होता है। जैविक खाद जैसे कि कृषि खाद (एफ. वाई.एम), वर्मी कम्पोस्ट या हरी खाद प्रजाति की आवश्यकता के अनुसार इस्तेमाल की जा सकती है। बीमारियों को रोकने के लिए नीम (गिरी, बीज और पत्ते), चित्रकमूल, धतूरा, गाय का मूत्र आदि (अकेले या मिश्रण) जैव कीटनाशक के रूप में इस्तेमाल किया जा सकता है।

मुलहठी का रस या तत्व

इसका रस या तत्व निकालने के लिए जंगली मुलहठी और उगाई हुई मुलहठी दोनों की ही पिसाई मिलस्टोंस में की जाती है। फिर उसके बाद इसे बायलर में भेज कर आग पर उबाला जाता है। फिर काढ़ा बनने के बाद उपयुक्त गाढ़ापन आने तक प्रत्यक्ष गर्मी में तांबे के बर्तन में सुखाया जाता है। इसे जलने से बचाने के लिए लगातार चलाया जाता है। गर्म अवस्था में इसे रोल्स के रूप में ढाल कर लकड़ी के बोर्ड पर सुखाने के छोड़ दिया जाता है। इसके रोल्स काले रंग के और कुछ हद तक चमकदार होते हैं। इसमें पतले और चमकदार फ्रैक्चर भी पाए जाते हैं।

भंडारण और व्यापार

पॉलिथीन लाइन बैग्स में संग्रहीत किये जाने के समय इनकी सूखी जड़ों में नमी 10 प्रतिशत से अधिक नहीं होनी चाहिए। इसकी जड़ों को सुविधाजनक आकार के टुकड़ों में काटकर मोटाई के आधार पर अलग-अलग ग्रेड में बाँट लिया जाता है।

शुष्क जड़ों की उपज हिसार (हरियाणा) में 70 से 80 क्विंटल/हेक्टेयर के बीच दर्ज की गई है। आनंद में 10 से 20 महीनों की फसल औसतन 20 से 25 क्विंटल/हेक्टेयर उपज दे देती है।

आधुनिक अध्ययन

आधुनिक शोध से समझा गया है कि अन्य अंगों के विपरीत मुलहठी का असर अंतरू स्रावी प्रणाली और जिगर पर पड़ता है। ग्लिसिरीज़ा के ट्राईटरपीन्स शरीर के अन्दर अणुओं में मेटाबोलाइज़ होते हैं जिसकी संरचना अधिवृक्क प्रांतस्था हार्मोन के समान होती है।

अर्थव्यवस्था

वर्ष 2001 के रिकॉर्ड के अनुसार मुलहठी से प्रति हेक्टेयर 3,50,000 से 4,00,000 रुपये तक का नफ़ा होता है बाजार की अस्थिरता के कारण औषधीय पौधों का अर्थशास्त्र बदलता रहता है।

विषैलापन

मुलहठी या मुलहठी की कैंडी अत्यधिक मात्रा में लेने से जिगर और हृदय प्रणाली के विषाक्त होने का खतरा होता है तथा यह उच्च रक्तचाप या शोफ का कारण भी बन सकता है। लम्बे समय तक मुलहठी की ज्यादा खुराक लेने से इलेक्ट्रोलाइट संतुलन के प्रभावित होने की भी संभावना होती है। इसमें एसीटीएच के जैसा ही प्रभाव होता है जो कि शरीर में सोडियम को बनने से रोकता है जिससे ब्लडप्रेशर के बढ़ने का खतरा पनपता है। उच्च रक्तचाप, गुर्दे की बीमारी या गर्भावस्था के दौरान मुलहठी से परहेज़ करना अत्यंत आवश्यक है। मुलहठी के कारण कैल्शियम और पोटेशियम के अवशोषण में हस्तक्षेप भी हो सकता है। मुलहठी के सेवन से बचें अगर आप ऑस्टियोपोरोसिस या उच्च रक्तचाप से पीड़ित हैं।

गिलोए

तिनोस्पोरा या गिलॉय या अमृता एक जानी मानी औषधीय वनस्पति है जिसमें संक्रमणरोधी और ज्वरनाशक गुण होते हैं। शरीर की रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ाने के लिए इसका उपयोग भारतीय आयुर्वेद में सदियों से होता आ रहा है। प्राचीन काल में इसका उपयोग चर्म रोगों, भूख न लगने में तथा पीलिया के उपचार में किया जाता था।

मनुष्य की श्वेत रक्त कणिकाओं पर किए गए वैज्ञानिक प्रयोग से ज्ञात हुआ है कि यह वनस्पति मनुष्य के शरीर में मेक्रोफेज़ की संख्या को बढ़ाता है जो कि शरीर में प्रवेश करने वाले बाहरी तत्वों तथा सूक्ष्म जीवाणुओं को रोकने तथा मारने का काम करता है।

ऑब्सट्रक्टिव जॉनडिस, हिपाटिक फाइब्रोसिस, पेरिटोनाइटिस एवं सेप्सिस जैसे रोगों में गिलॉय को रोग प्रतिरोधी क्षमतावर्धक के रूप में काम में लिया जाता है। गिलॉय शरीर की रक्षा कोशिकाओं और मेक्रोफेज़ की कार्यक्षमता को बढ़ाता है और संक्रमण से लड़ने के लिए शरीर की ताकत में वृद्धि करता है। इस औषधीय पौधे का उपयोग स्वाइन लू जैसे रोग से बचाव में भी किया जाता है।

तिनोस्पोरा की बेल

यह एक बेल है जो ज़्यादातर बड़े पेड़ों पर उगती है। इसकी शाखाएं करीब 40 मिमी व्यास की स्लेटी-हरे रंग की होती हैं जो समय के साथ भूरी हो जाती हैं। इसकी पत्तियाँ 100X100 मिमी की व दिल के आकार की होती हैं। इसके फूल हल्के पीले-हरे रंग के होते हैं और मादा व नर फूल अलग-अलग शाखाओं पर उगते हैं।

इस पर फूल वसंत ऋतू में आते हैं। मादा फूल से करीब 10 मिमी व्यास का लाल अंडाकार फल बनता है। ये फल गर्मी और पतझड़ में पकते हैं।

इस पौधे की छाल पतली और स्लेटी या सफ़ेद रंग की होती है। इसके बीज मुड़े हुए मटर के दानों के आकार के होते हैं। जड़ से निकाला गया अर्क (काढ़ा) एकदम सफ़ेद होता है जबकि तने से निकाला गया पदार्थ थोडा स्लेटी रंग का होता है। इसका ताज़ा बनाया हुआ काढ़ा अच्छे स्वाद का होता है।

रासायनिक तत्व

इसमें बरबेराइन नामक एल्केलाइड और गिल,यन नामक ग्लुकोसॉयड पाया जाता है। कुछ सक्रिय एडाप्टोजेनिक तत्व होते हैं जैसे कि टिनोस्पोरेन, टिनोस्पोरिक एसिड, क,र्डीफोलिसाइड ए से इ तक, सिरिंजन, पीला एल्केलायड, बरबेराइन, गिलॉयन, पॉलिसैकेराइड आदि।

उपज

यह दीर्घ आयु वाला पौधा होता है और स्थानीय रूप से बहुतायत में उगता है। इसके लिए किसी भी विशेष प्रकार की मिट्‌टी की आवश्यकता नहीं होती है तथा यह किसी भी तापमान में उग सकता है।

औषधीय जड़ी-बूटी के रूप में

तिनोस्पोरा या गिलॉय को सूक्ष्म संचार प्रणाली और अन्य शारीरिक चैनलों को साफ़ करने की सबसे अच्छी जड़ी बूटियों में गिना जाता है। तिनोस्पोरा कॉर्डीफ़ोलिया की तनाव विरोधी या एंजियोलाईटिक गतिविधि को शोध और चिकित्सकीय परीक्षण में काफी प्रलेखित किया गया है। तिनोस्पोरा या गिलॉय एक मूत्रवर्धक के रूप में कार्य करता है और यह गुर्दे की बीमारियों जैसे पथरी और अन्य मूत्र व किार के खिलाफ काफी प्रभावी पाया गया है। स्मृति में वृद्धि करने के साथ यह बुद्धि का विकास और मानसिक स्पष्टता को बढ़ावा देता है। चरक

संहिता (आयुर्वेदिक चिकित्सा की सबसे पुरानी और सबसे शक्तिशाली पुस्तक) में इसका मेध्य रसायन (मानसिक वृद्धि) के रूप में वर्णन है। गिलॉय का प्रयोग जिगर की बीमारियों में भी किया जाता है।

गिलॉय ऊतक निर्माता के रूप में नेत्र विकारों में और मानसिक स्पष्टता को बढ़ावा देने में काफी उपयोगी माना जाता है। गिलॉय के तने का प्रयोग सामान्य दुर्बलता, अपाचन और मूत्र रोगों में भी किया जाता है। गिलॉय एक ज्वरनाशक भी होता है तथा बुखार में यह टॉनिक के रूप में कार्य करता है। साथ ही यह मलेरिया जैसे वैकल्पिक बुखारों में भी लाभकारी होता है।

प्रतिरक्षा तंत्र का शक्तिवर्धन, गिलॉय प्रतिरक्षा तंत्र को बढ़ावा देने के लिए जाना जाता है तथा यह इस कार्य के लिए सबसे अच्छी दवाओं में से एक माना जाता है। यह कई तरह के संक्रमण और बीमारियों से हमें बचाने के लिए हमारे प्राकृतिक प्रतिरोध शक्ति को बढ़ावा देने में मदद करता है। एक ताजा अध्ययन में पाया गया है कि इसमें एक अनूठा पॉलीसैक्राइड पाया जाता है जिसे अल्फा डी ग्लूकॉन के नाम से जाना जाता है जो कि बी कोशिकाओं से बने सफेद रक्त कोशिकाओं (शरीर में पाए जाने वाले द्रव्य की रोगक्षमता बढ़ाती हैं) और टी कोशिकाओं (कोशिकाओं की प्रतिरक्षा करती हैं) के लिए नॉनसाइटोट,क्सिक होता है अर्थात दोनों प्रकार की कोशिकाओं का शक्तिवर्धन करने के काम आता है।

कुछ स्वास्थ्य विशेषज्ञ और आयुर्वेदिक चिकित्सक किसी-किसी यौन संक्रमित रोग में तिनोस्पोरा या गिलॉय का प्रयोग करते हैं तथा यह जड़ी-बूटी विभिन्न प्रकार के त्वचा रोगों के इलाज में भी उपयोगी होती है। तिनोस्पोरा कॉर्डीफ़ोलिया (टीसीइ) का अर्क ट्यूमर विरोधी गुण भी प्रदर्शित करता है।

गिलॉय जो कि नीम के पेड़ पर उगता है औषधीय उपयोग के लिए बहुत प्रभावी माना जाता है। गिलॉय सत्व (गिलॉय का अर्क) बहुत शक्तिशाली टॉनिक होता है। यह एक काफी अच्छे शक्तिवर्धक के रूप में कार्य करता है इसीलिए यह कई प्रकार के रोगों में उपयोगी होता है।

अन्य उपयोग

तिनोस्पोरा विभिन्न बीमारियों के खिलाफ प्राकृतिक संरक्षण के निर्माण में बहुत उपयोगी होता है। यह अक्सर सामान्य दुर्बलता, अपाचन और कुछ अन्य जठरांत्र रोगों के इलाज के लिए प्रयोग किया जाता है। यह जड़ी-बूटी जो कि प्राकृतिक रूप से पेटदर्द निवारक और मूत्रवर्धक होती है प्रभावी रूप से पित्त रस के स्राव को उत्तेजित करती है तथा प्यास, जलन, उल्टी और पीलिया से राहत प्रदान करती है।

अर्थशास्त्र

इसकी जड़ों की बाजार में और अर्क की चिकित्सीय उपयोगों में बहुत मांग है।

हालिया शोध

तिनोस्पोरा कॉर्डीफ़ोलिया महत्वपूर्ण जीवाणुनाशक गतिविधियों को दर्शाता है। यह जीवाणु की सफाई के साथ ही न्यूट्रोफिल्स की फेगोसाईटिक और आतंरिक कोशिकाओं की जीवाणुनाशक क्षमता को बेहतर बनाता है। यह बृहतभक्षककोशिका को भी उत्तेजित करता है जिसके परिणाम स्वरूप शरीर की प्रतिरक्षा प्रणाली को शक्ति मिलती है। (संदर्भ थेट्टे यूएम, कुलकर्णी एमआर और दहानुकार एसए, तिनोस्पोरा कॉर्डीफ़ोलिया, आईपीजीएम (1992) 38 (1) द्वारा पेरिटोनिटिस और जीवाणुरक्तता एस्केरीशिया कोलाई का इम्म्युनोथेरेप्युटिक संशोधन 13-15)।

अनुसंधान अध्ययन से यह भी पता चलता है कि पैर के अल्सर वाले मधुमेह मेलिटस रोगियों में तिनोस्पोरा कॉर्डीफ़ोलिया ने घाव भरने के सुधार के साथ काफी बेहतर परिणाम दिए हैं। डेब्रीमेंट्स में कमी और फेगोसाइटोसिस में बढ़ोत्तरी सांख्यिकीय रूप में उपस्थित रही है जो कि अल्सर के भराव के लिए इम्युनो मोड्युलेशन के लाभदायक प्रभाव को दर्शाती है। अपने सूजन विरोधी गुण के कारण इसका अर्क गठिया की समस्याओं के निवारण में काफी प्रभावकारी होता है। इसके पौधे का अर्क खरगोश और चूहों में रक्त शर्करा की बढ़ोत्तरी में कमी लाता है।

पीलू

पीलू (जिसे जाल भी कहा जाता है) भारत, पाकिस्तान और दक्षिणी ईरान में मिलने वाला एक छोटा सा जंगली पेड़ होता है जो कि आमतौर पर सदाबहार रहता है। शिथिल शाखाओं के साथ एक छोटा सा पेड़ होने के कारण यह शायद ही 20 फीट की ऊंचाई या 3 फीट की परिधि की सीमा लांग सके। शुष्क इलाकों में यह बहुत आम पेड़ है क्योंकि शुष्क वातावरण के लिए काफी अनुकूल होता है लेकिन जिन जगहों पर वर्षा की स्थिति बेहतर हैं, वहां यह पेड़ काफी दुर्लभ होता है। यह मृदा लवणता का सामना बड़े ही आराम से कर सकता है। परिपक्वता आने पर यह मोटा और कठोर हो जाता है। अप्रैल के महीने में इस पर नए पत्ते आते हैं तथा इस पर झाड़ियाँ भी काफी अच्छी आती हैं लेकिन जड़ चूषक और प्राकृतिक लेयरिंग द्वारा यह स्वतंत्र रूप से पुनरू बन जाती हैं। हालांकि यह बहुत धीमी गति से बढ़ता है लेकिन जड़ चूषक और कुछ प्राकृतिक अंकुरों की वजह से यह काफी घना विकास करता है। रेगिस्तानी इलाकों में जहां गर्मी काफी पड़ती है वहां पीलू का पेड़ घनी छाया पाने का एक अच्छा स्त्रोत होता है तथा इसकी पत्तियों को छांट कर ऊंट और बकरी के चारे के रूप में इस्तेमाल किया जाता है इसके फूल बिना डंठल के, हरे-सफेद, गोलाकार और केलिक्स कप के आकार के होते हैं।

पारिस्थितिकी

पीलू का पेड़ आमतौर पर पश्चिमी भारत और पाकिस्तान के शुष्क क्षेत्रों में पाया जाता है तथा यह ठंड बर्दाश्त नहीं कर सकता। इसकी प्राकृतिक वनस्पति उष्णकटिबंधीय कॉँटा वन की तरह ही होती है जिसमे कि मुख्य रूप से प्रोसोपिस स्पिसिगेरा, सेल्वाडोरा ओलिओइडेस, कैप्पारिस एफाइला और टमारिक्स आरटीक्युलटा शामिल होते हैं। यह पेड़ खारापन आराम से सहन कर सकता है और तटीय क्षेत्रों में और खारी मिट्टी के साथ अच्छा विकास करता है।

फल

मार्च और अप्रैल के महीने में इस पर छोटे-छोटे हल्के हरे और सफ़ेद रंग के फूल आते हैं। मई और जून के महीने में इसके पीले रंग के फलों को तोड़ा जाता है। यह स्थानीय किसानों के पशुओं के चारे का मुख्य स्त्रोत होता है। सिंध में इसके फल को सांप के काटे हुए स्थान लगाया जाता है, जिस कारण इसे विषनिरोधक के रूप में काफी प्रभावी माना जाता है।

लकड़ी

इसका ज्यादातर भाग लकड़ी का नहीं होता और जो भी कुछ थोड़ी लकड़ी इसमें पाई जाती है वह मुलायम और हल्की होती है। पीलू के पेड़ की लकड़ी, लकड़ियों के किसी भी उत्पाद में काम नहीं आती है। पीलू का पेड़ जलने के बाद भारी मात्रा में राख छोड़ता है जिसे पानी के साथ उबाला जाता है और उसके बाद पानी को सूखा कर ऊंट की खाज की बीमारी में इस्तेमाल किया जाता है।

पत्ते

इसकी पत्तियों को पूर्वी उष्णकटिबंधीय अफ्रीका में सब्जी और सलाद के रूप में खाया जाता है और इसे चटनी की तैयारी में भी इस्तेमाल किया जाता है। इसकी पत्तियां स्वाद में तीखी और कड़वी होती है। जिगर के ट,निक, दांत मजबूत बनाने, ल्येकोडर्मा, सूजन को कम करने, मूत्रवर्धक, पीड़ाहारी, बवासीर, खुजली, कृमिनाशक, ओज़ोएना और अन्य नाक की बीमारियों के लिए उपयोगी होती हैं। पंजाब में इसकी पत्तियों को सभी प्रकार के जहर के इलाज के रूप में जाना जाता है और मुम्बई के दक्षिणी इलाके में इसे गठिया के इलाज में प्रयोग तथा पत्तियों का रस स्कर्वी में प्रयोग किया जाता है।

जड़

इसकी जड़ों का पेस्ट सरसों की लिपाई का विकल्प माना जाता है और इसकी जड़ों का काढ़ा जनन अंगों की सूजन और सर्दी के खिलाफ इस्तेमाल किया जाता है। इसकी छाल का काढ़ा रजोरोध में ट,निक के रूप में तथा पत्तियों का रस स्कर्वी में प्रयोग किया जाता है।

टूथपेस्ट

पीलू से बनने वाले टूथपेस्ट का उपयोग दुनिया भर में होता है अलग-अलग देशों में भिन्न-भिन्न नामों से इसका टूथपेस्ट बनाया जाता है। कई देशों में बनने वाले कुछ व्यावसायिक टूथपेस्ट के नाम इस प्रकार हैं - सरकन टूथपेस्ट (यूके), क्वाली-मिसवाक टूथपेस्ट (स्विट्जरलैंड), एपीडेंट टूथपेस्ट (मिस्र), स विाक एफ टूथपेस्ट (इंडोनेशिया), लोरोस्वाक मिसवाक (पाकिस्तान), डेन्टाकेयर मिसवाक प्लस (सऊदी अरब)।

इससे बने च्युइंगम का इस्तेमाल सदियों से होता आ रहा है और उन क्षेत्रों में जहाँ इसका उपयोग प्रथागत है वहां विश्व स्वास्थ्य संगठन इसके उपयोग की सिफारिश भी करता है।

पीलू की औषधीय और अनुसंधान गतिविधियों में काफी संभावना है तथा ये काफी अच्छा माने जाना वाला उत्पाद है।

रोहिड़ा

रोहिड़ा नामक पेड़ भारत और पाकिस्तान के थार के रेगिस्तानी क्षेत्र में पाया जाने वाला एक मूल्यवान पेड़ है। वैश्विक स्तर पर अंग्रेजी भाषा में इस पेड़ को तेकोमेला उन्ड्युलता के नाम से जाना जाता है। मध्यम आकार का यह पेड़ अच्छी किस्म की लकड़ी उत्पादित करने के साथ-साथ राजस्थान के शेखावटी और मारवाड़ी क्षेत्र में उच्चतम गुणवत्ता की लकड़ी प्रदान करने वाले पेड़ों में से एक है। पहाड़ी क्षेत्रों और बीहड़ों के मैदानी क्षेत्रों के साथ-साथ रेगिस्तानी क्षेत्रों में भी यह पेड़ लगभग सदाबहार रहता है।

इस प्रजाति के पेड़ों को आमतौर पर रेगिस्तानी टीक या मारवाड़ी टीक कहा जाता है। सौम्य पहाड़ी ढलानों और कभी-कभी बीहड़ के मैदानी व लहरदार क्षेत्रों में पाये जाने के साथ यह रेत के टीलों में बहुत अच्छी तरह पनपता है क्योंकि यह अल्प वर्षा (150-500mm वार्षिक) वाले क्षेत्रों व उच्च तापमान (35 डिग्री सेल्सियस से 48 डिग्री सेल्सियस) वाले क्षेत्रों में काफी अच्छी तरह उगता है। गर्मी के दिनों में तो यह 48 से 50 डिग्री सेल्सियस के उच्च तापमान तथा सर्दी के दिनों में 0 डिग्री सेल्सियस से -2 डिग्री सेल्सियस के निम्न तापमान को आराम से झेल लेता है। यह सूखी बलुई मिट्टी से लेकर रेतीली दोमट मिट्टी जिनका पीएच स्तर 6.5-8.0 के बीच में है के लिए बहुत अनुकूल होता है।

इसे अच्छे प्रकाश की काफी ज़रुरत होती है। दिसंबर से लेकर फरवरी तक के महीनों में इस पर पीले, नारंगी और लाल रंग के सुंदर फूल उगते हैं। कुछ हद तक लांस के आकार वाली इनकी पत्तियां 5-12 सेमी तक लंबी होती है तथा इनके फल पंखदार बीजों के साथ 20 सेमी तक लम्बे, पतले और थोड़े से घुमावदार कैप्सूल के आकार में होते हैं।

फैलाव

रोहिड़ा का फैलाव समुद्र तट से 1200 मीटर की ऊंचाई पर अरब, दक्षिणी पाकिस्तान और उत्तर-पश्चिम भारत के शुष्क भागों तक सीमित है। पाकिस्तान के अटक काला चिटा पहाड़ी इलाके में हरोड़ा के नाम से जाना जाता है, जो कि बलूचिस्तान और सिंध में पाया जाता है। भारत में महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान, पंजाब और हरियाणा में ये आमतौर पर पाया जाता है। रोहिड़ा की प्रजाति मुख्य रूप से पश्चिमी राजस्थान में पायी जाती है। अन्य राज्यों में इसकी जनसंख्या कम और कहीं-कहीं तो दुर्लभ ही है। राजस्थान में रोहिड़ा बाड़मेर, जैसलमेर, जोधपुर, पाली, अजमेर, नागौर, बीकानेर, चुरू और सीकर जिलों में पाया जाता है। कृषि वानिकी में रोहिड़ा को काफी अच्छा पेड़ माना जाता है और कृषि भूमि में यह बड़ी आबादी में पाया जाता है। इसे सामुदायिक और जंगली जमीनों में आराम से बढ़ते हुए देखा जा सकता है। कृषि भूमि में यह आम तौर पर प्रोसोपिस सिनेरिया के सहयोग से बढ़ता है।

उपयोग

रोहिड़ा मुख्य रूप से लकड़ी का एक अच्छा स्रोत है क्योंकि इसकी लकड़ी मजबूत और टिकाऊ होती है तथा इसकी फिनिशिंग बहुत ही फाइन होती है जिसकी वजह से इसकी लकड़ी का फर्नीचर बनाने में काफी अच्छा महत्व होता है। लकड़ी और लकड़ी के कोयले के लिए यह बहुत ही उत्कृष्ट होता है। मवेशी और बकरियाँ इसके पत्ते खाते हैं तथा ऊँट और भेड़ इसके फूल और फल खाते हैं जिससे इस पेड़ की उपयोगिता और भी बढ़ जाती है। रोहिड़ा पारिस्थितिकी में भी अपनी एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यह मिट्टी की ऊपरी सतह पर पार्श्व जड़ों के एक नेटवर्क के प्रसार के द्वारा मिट्टी को समेट के रखता है। साथ ही साथ यह तेज़ हवाओं को रोकने और रेत के टिब्बों को स्थिर रखने में मदद करता है। यह पक्षियों के घरों के रूप में भी काम आता है। पेड़ के ऊपरी चौड़े हिस्से की छाया गर्मियों के दिनों में मवेशियों, बकरियों और भेड़ों के लिए आश्रय प्रदान करती है।

चिकित्सीय उपयोग

रोहिड़ा के औषधीय गुण भी काफी हैं जैसे कि इसके स्टेम से प्राप्त छाल से सिलीफिस नामक बीमारी का इलाज किया जाता है। मूत्र विकार, प्लीहा की वृद्धि, सूजन, दाग और यकृत रोग के इलाज में भी इसका उपयोग किया जाता है। इसके बीज का उपयोग फोड़े में किया जाता है और पाकिस्तान के मुसाखेल में परंपरागत रूप से इसके फूल का इस्तेमाल हेपेटाइटिस के लिए किया जाता है।

Gramin Vikas Vigyan Samiti (GRAVIS) or Center of People's Science for Rural Development is a non-governmental, voluntary organization that takes a Gandhian approach to rural development by working with the poor of the Thar Desert to enable them to help themselves. Since its inception in 1983. GRAVIS has worked with over 55,000 desert families across over 1,200 villages in Rajasthan reaching a population of over 1 million, and has established over 2,500 Community Based Organizations (CBOs). Through its dedicated field work, as well as its research and publications, GRAVIS has come to occupy a leading position amongst the voluntary organizations in the region.

Gravis

3/437/ 458, MM Colony, Pal Road,
Jodhpur - 342 008 Rajasthan, India.

Phones : 91 291 2785 317, 2785 116
Fax : 91 291 2785 116
Email : email@gravis.org.in

www.gravis.org.in

© 2013 GRAVIS
All rights reserved